प्रकाशक
ज्ञानपाल सेठिया
अर्चना मन्दिर
बीकानेर

मुद्रक
महेन्द्रनाथ पाण्डेय
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

निवेदन

मेरी 'विजनवती' यद्यपि अभी केवल दशवर्षीया कुमारी है, तथापि वह ऐसी अनुभूतिप्रवण है कि इस सुकुमार अवस्थामे भी वह आवश्यकतासे अधिक सङ्कोचशील जान पडती है और अत्यन्त शङ्कित तथा कम्पित पगोसे काव्य-साहित्यके प्राङ्गणमे आई है।

वर्तमान सग्रहकी कविताएँ विभिन्न पत्रिकाओमें प्रकाशित हो चुकी है।

इस सग्रहके प्रकाशनके सम्बन्धमे मुझे विशेषरूपसे दो व्यक्तियोके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करनी है। इनमेंसे प्रथम व्यक्ति है मेरे नवयुवक मित्र, प्रियवर श्री ज्ञानपाल सेठिया, जिनकी मार्मिक अनुभूति तथा अद्भुत काव्य-रसज्ञता मुझे बरबस अपनी ओर खीच ले गई और जिनकी सहृदय सहानुभूतिसे प्रेरित होकर ही मै अपनी बिखरी हुई कविताओको पुस्तकके रूपमे निकालनेके लिये तत्पर हो सका। द्वितीय व्यक्ति है, हमारे साहित्यकी सर्वश्रेष्ठ कवयित्री और ख्यातिप्राप्त चित्रकर्त्री श्रीमती महादेवी वर्मा, जिन्होने 'विजनवती'के आवरण-पृष्ठके लिये चित्र बनानेका कष्ट करके मुझे परम अनुगृहीत किया है।

प्रयाग
२९ मार्च, १९३७

इलाचन्द्र जोशी

भूमिका

इधर दस बारह वर्षोंके भीतर हिन्दी काव्य-जगत्‌में जो युगान्तर हुआ है उसके प्रबल तरङ्गाभिघातसे हमारी साहित्य-धाराकी प्रगति ही एकदम बदल गई है। गोस्वामी तुलसीदासने हिन्दी-ससारमे प्रथम बार क्रान्ति उत्पन्न की थी। उनके बाद बीच का दीर्घ तीन सौ वर्षव्यापी काल कृत्रिम काव्य-कलाकी कौतुक-क्रीड़ा-जनित विफल विस्फूर्जन तथा व्यर्थ आस्फालन का युग रहा है। इस निर्मम कृत्रिमता के प्रति वास्तविक कवि-हृदयका विद्रोह दीर्घ कालसे अन्तरिक्षमें सञ्चित होता चला आता था। वर्तमान युगमें नाना वाह्य सङ्घर्षणो तथा अन्तरावेगोके कारण वह शत-शत धाराओमे उच्छ्वसित होकर निर्मुक्त वेगसे, अविराम गतिसे फूट निकला है। हिन्दी-साहित्यमे यह द्वितीय बार वास्तविक क्रान्तिकी लहर उमड पडी है। विरोधियो ने इस परिपूर्ण प्लावन की गति को सर्वत. अवरुद्ध करनेकी चेष्टामे कोई बात उठा नही रखी, पर इस अदम्य सत्यकी प्रचण्ड सघूर्णन शक्तिका प्रतिरोध करनेमें वे किसी प्रकार भी समर्थ न हो सके। सत्यमेव जयते नानृतम्। छायावादी कविगण अपनी अन्तरात्माकी वास्तविक वेदना लेकर आविर्भूत हुए थे, इसलिये उनकी विजय अनिवार्य थी। आज उनके विरोधियो को भी उनके आगे नतमस्तक होना पड़ा है।

वर्तमान 'छायावादी' युगमें हिन्दीका Romantic युग प्रारम्भ हुआ है। Romanticism क्योकर हिन्दीमें 'छायावाद' के नामसे प्रचलित हो गया, इस रहस्य का उद्‌घाटन करने का काम मेरा नही है। तथापि इस सम्बन्धमे मेरी जो कुछ धारणा है, उसे मै थोडे शब्दो में व्यक्त कर देना चाहता हूँ। 'छायावादी' कविताओ के प्रचलनके पहले हिन्दीमे दो प्रकारकी कविताएँ छपा करती थी। एक तो नायकनायिका-भेद-प्रदर्शन तथा नख-सिख-वर्णनकी पुरानी पद्धतिके अन्ध अनुकरण में लिखी गयी कविताएँ, और दूसरी कोरी वर्णनात्मक कविताएँ। इनमें प्रथम प्रकार की कविताएँ तो जूठी कविताओकी भी जूठन होती थी और उनमें न प्राणो की कोई वेदना और न किसी प्रकारका जीवन-सवेग ही रहता था। दूसरे प्रकार की 'कविताएँ' वच्चो के खेलवाडकी कोरी तुकवन्दियोके अलावा कुछ

भी नही थी। इन द्वितीय प्रकारकी 'कविताओं'में जो कविताएँ सर्वोच्च कोटिकी समझी जाती थी उनके उत्कर्षका पता पाठकोको निम्न पंक्तियोसे भली भाँति लग जायगा—

उठो भाइयो! नींदको छोड़ दो!
जगो, जाल आलस्यका तोड़ दो!
मिटे सर्वदाको अविद्या निशा।
प्रभापूर्ण हो जाय प्राची दिशा॥

पाठक मेरी बातपर विश्वास करे चाहे न करें, पर ये पंक्तियाँ उस समय सर्वसम्मतिमें सर्वश्रेष्ठ माने जाने वाले और वस्तुत. माननीय कवि महोदयकी तत्कालीन सर्वोत्तम कविताओमेंसे एकके प्रारम्भ की हैं। तात्पर्य यह कि हिन्दी-संसारके साहित्य-रसिकगण इसी प्रकारकी 'प्रसादगुण'—समन्वित, सुस्पष्ट कविताके स्वच्छ सरोवरमें विहार करनेके आदी हो गये थे। इस प्रकारके पद्योमें तुकोका धारा-प्रवाह अच्छा रहता था, जो उस युगके अल्प-सस्कृत पाठकोंके मनोमें गुदगुदी-सी पैदा करता था, और उनका अर्थ समझनेके लिये उन्हे माथा खपानेकी कोई आवश्यकता ही नही रहती थी। (और हिन्दी-संसारमें इस समय भी ऐसे साहित्यिकोकी कमी नही है जो इसी एक गुणको किसी कविताका सर्वश्रेष्ठ गुण समझते हैं)। अतएव जब उनके सम्मुख अन्तरात्माकी वास्तविक तथा निगूढ़ वेदना से प्रसूत कविताएँ नये रूपमें तथा नये आकारमें आने लगी तो वे उन्हे विचित्र, रहस्यपूर्ण, अस्पष्ट तथा छायात्मक प्रतीत हुईं। अचानक इस प्रकारकी कविताओकी बाढ-सी आते देख वे घबरा उठे और इस घबराहटमें उन्हे कुछ सूझ न पड़ा कि इस श्रेणीकी कविताओको क्या नाम दिया जाय। कोई एक नाम देना परमावश्यक हो उठा, क्योकि 'वास्तविक' कविताओं (अर्थात् सरल तुकबन्दियो) को इन 'अवास्तविक' तथा 'अर्थहीन' कविताओकी बाढ़से बचाने, उनके ससर्गसे सुरक्षित रखनेके लिये ऐसा करना जरूरी समझा गया। फलस्वरूप नये ढरेंकी कविताका नाम पड़ा 'छायावादी कविता' और इस श्रेणीकी कविताकी भावधारा का नाम पड़ा 'छायावाद।' यह नाम यद्यपि पीछे स्वय छायावादी कवियोने प्रशंसात्मक दृष्टिसे स्वीकृत कर लिया, पर वास्तवमें यह नयी शैली की कविताके विरोधियो द्वारा घृणात्मक दृष्टिसे रखा गया नाम है। 'छायावादी' शब्दसे उन लोगोका तात्पर्य यह जताने का था कि नवीन कवियोकी कवितामें भावोकी वास्तविकता नही, बल्कि उसकी छायामात्र रहती है!

वर्तमान समयमें 'छायावाद' बहु-विस्तृत तथा अनिश्चित अर्थमें व्यवहृत होता है। कोई कविता चाहे Romantic हो, चाहे Mystic, चाहे Lyric, वह 'छायावादी' ही कही जायगी। इसमे सन्देह नही कि उच्चकोटिकी 'रोमाण्टिक' कवितामें मर्मवाद (Mysticism—जो हिन्दीमें 'रहस्यवाद' के नामसे प्रसिद्ध हुआ है) की पुट किसी-न-किसी अशमे रहना अनिवार्य है; तथापि इस समय विशुद्ध 'रहस्यवादी' कविताके दो तीन ही आचार्य हैं, जिनमे श्री 'प्रसाद', श्रीमती महादेवी वर्मा तथा श्री रामकुमार वर्माका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। पन्तजीके 'पल्लव'मे विशुद्ध 'रोमाण्टिक' रस छलकता है, पर 'गुञ्जन' मे उनका खिचाव 'रहस्यवाद' की ओर अधिक जान पडता है। निरालाजीने भी 'छायावाद' तथा 'रहस्यवाद' दोनोको पूर्ण सफलतासे अपनाया है, पर कही कही वह इन दोनों वादोंसे बहुत आगे बढ गये हैं और आजकल उन्होने अपनी गहन भावमयी कविताओ द्वारा अच्छी धाक हिन्दी साहित्यमें जमा रखी है। कुछ भी हो, मेरा तात्पर्य यह है कि पुराणपथियोने यद्यपि नयी शैलीकी कविताके विरोधमे कोई कोर-कसर नही रखी, तथापि वे अपनी चेष्टामें सर्वथा असफल रहे और अन्तमे 'छायावाद' की मायाका ऐसा सिक्का जनतापर जमा कि स्वय पुराणपंथी कवि भी अन्यथा गति न देखकर उसी शैलीको अपनानेके लिए बाध्य हुए। निरालाजीकी कविताके निरालेपनने और पन्तजीकी कान्त कविताके ललित लावण्य-विलासने काव्य-रसिकोका दृष्टि-कोण प्रसारित कर दिया, और काव्य-सागरके किनारे उसके छिछले जलमें क्रीड़ा करके सन्तुष्ट रहनेवाले हिन्दीके आलसी शिशुओ को उसके गम्भीर भावो तथा अगाध रसके अगम अतलमें डुबोकर ही छोड़ा। और अब इस रस-सागरमें "अनबूडे बूडे, तिरे, जे बूडे सब अङ्ग।"

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो हिन्दीकी नवीन शैलीकी कविताओका 'छाया-वादी' नाम एक प्रकारसे सार्थक ही है। भले ही यह नामकरण किसी दूसरी दृष्टिसे हुआ हो, पर यह निश्चित है कि नयी शैलीकी प्राय सभी कविताएँ 'छायात्मक' होती हैं। इस व्यक्त जगत्के परे जो एक अदृश्य छाया प्रतिपल अपना झिलमिल रूप दिखाती रहती है उसने हिन्दीके प्राय. सभी कवियोको अपने अलौकिक रहस्यकी मनोमोहकताके कारण प्रबल वेगसे आकर्षित किया है। यह छाया क्या है? यह कोई भी नही बता सकता। यह अव्यक्त, अज्ञात तथा रहस्यमय है और चिरकाल ऐसी ही रहेगी। यही एक कारण है कि इसका आकर्षण भी कवियोके लिये इतना अधिक प्रवेगशाली है। वैदान्तिक इसे निर्गुण, निरूप तथा अव्यक्त

ब्रह्म कह सकते है, जिसे उपनिषदोने सब रसोका मूल माना है—"रसो वै स" (वही रस है) ऐसा कहा है, साख्यमतवाले उसे मूल प्रकृति कह सकते है, जो अपनी मायामयी छायाकी नाना रूप-रङ्ग-समन्वित अभिव्यञ्जनासे निखिल पुरुषात्माको विमोहित किये हुए है, जडवादी उसे कवियोका मिथ्या भ्रम तथा आत्मवञ्चक स्वप्नोकी निरर्थक कल्पना कह सकते है। पर यथार्थ कवि तत्त्ववादी नही होता, इसलिये इस प्रकारके तात्त्विक विवेचनोमेंसे किसीको भी वह अधिक महत्त्व नही देना चाहता। इस 'छाया'के आविर्भावका मूल कारण चाहे कहीपर हो, वह चाहे उसीकी मानस-प्रसूत आत्म-वञ्चनामयी माया ही क्यो न हो, वह उसे निरन्तर अपनी नव-नव रहस्यमयी झलकोसे, अपनी अज्ञात आवेशमयी, पुलक-हिल्लोलमयी, प्रतिपल आन्दोलित पलको से, निखिलको विजडित करने वाली, विश्व-विसर्पित मनोहारी अलकोसे विमुग्ध करती रहती है, तथापि स्वय अपरिचित तथा अज्ञात ही रह जाती है। केवल यही तथ्य उसकी अन्तरात्मामें रस-स्रोत उद्वेलित करनेके लिये पर्याप्त है। ब्रह्म अथवा माया, सत्य अथवा मिथ्याके झगडेमे पड़नेकी न तो उसमें विशेष प्रवृत्ति ही उत्पन्न होती है, न वह इस बात का निबटारा ही किसीसे कराना चाहता है। वह जानता है कि वह 'छाया' चाहे मिथ्या माया हो, चाहे कविका भ्रामक स्वप्न, पर उसके लिये तो वह चरम तथा परम सत्यके रूपमे क्षण-क्षणमे परिलक्षित होती रहती है। इसका यह अर्थ नही कि वह इस चिर-विचित्र-मयी छायाका अन्तर्भेद करने, उसके मूल रहस्यसे परिचित होनेकी इच्छा नही रखता। वह अवश्य उसकी निगूढताका अन्तर्पट खोलना चाहता है, पर अपनी ही अनुभूतिसे, न कि किसी तात्त्विकके सिखलाये हुए ज्ञानके बल पर। हालमे (नवम्बर १९३६ के 'चाँदमे') पन्तजीकी 'छाया' शीर्षक एक सुन्दर कविता प्रकाशित हुई है जिसमे कविकी इस चिर-सहचरी, आजीवन-परिचिता तथापि चिर-अज्ञाता छायाके मर्मोद्घाटनकी वेदना बडे अच्छे ढँगसे व्यक्त हुई है। उसके कुछ अशोको उद्धृत करनेका लोभ मै यहाँ सँभाल नही सकता—

खोलो मुखसे घूंघट खोलो!
हे चिर अवगुण्ठनमयि, बोलो!
क्या तुम केवल चिर अवगुण्ठन?
अथवा भीतर जीवन-कम्पन?

× × ×

पटपर पट, केवल अंधकार,
पटपर पट खुले, न मिला पार!
सखि! हटा अपरिचय-अन्धकार,
खोलो रहस्यके मर्मद्वार!

× × ×

मै हार गया तह छील छील,
आँखोंसे प्रिय छबि लील-लील;
मै हूँ या तुम, यह कैसा छल!
या हम दोनों, दोनोंके बल?

स्पष्ट है कि कवि 'छाया'की भ्रामरी मायाके चक्करमें पडकर विचित्र उलझन-में है। वह जानता है कि इस रहस्यमयी कुहकिनीके रहस्यका पता पाना असम्भव ही है, तथापि उसके लीला-वैचित्र्यने उसे इस प्रकार भुला रखा है कि यह सन्देह होते हुए भी कि कही वह झूठी माया तो नही है, वह उसका सङ्ग त्याग करनेकी तनिक भी इच्छा नही रखता और नाना विरोधी कारण होते हुए भी उसकी अन्त-रात्मा उसी छायाको एकमात्र सत्य मानना चाहती है।

केवल हमारे छायावादी कवि ही नही, ससारके बहुतसे श्रेष्ठ कवियोको प्रकृति-की छायात्मिका मोहिनीने लुभाया है, और यद्यपि वे लोग इस बातका निर्णय न कर सके कि वह स्वप्न है या सत्य, तथापि उसकी बहुरङ्गी लीलामे वे उन्मुक्त आत्मासे सम्मिलित हुए है और इसीमें उन्होने अपने अन्तरकी रसाकाक्षिणी प्रवृत्तिकी चरम सार्थकता मानी है। कालिदासको 'मेघदूत'-रचनाकी प्रेरणा तभी प्राप्त हुई थी जब वे इस छायाकी मायाके भुलावेमें आये थे, अन्यथा उनमें कभी चित्रकूट-पर्वतमे यक्षको खडा करके उससे छायात्मक मेघ द्वारा अपनी विरहिणी प्रियाको सन्देश पठाने के बहाने छायाकी नव-नव रूपमयी लीलाओकी विचित्रता-का रस स्वयं पान करने तथा दूसरोको पान करानेकी आकाक्षा जागरित न हो पाती। रवीन्द्रनाथको इस छायात्मिका मायाने नाना रूपोसे भुलाया है, जिनका मनोहर वर्णन उन्होने अपनी विभिन्न कविताओमें किया है। इस 'छाया'का लीला-वैचित्र्य देखकर उन्होने उसे 'चित्रा' नाम दिया है। अपनी 'चित्रा' शीर्षक प्रसिद्ध कवितामे वह इसी 'छाया'के सम्बन्धमें लिखते है—

जगतेर माझे कत विचित्र तुमि हे
तुम विचित्ररूपिणी !
अयुत आलोके झलसिछो नील गगने,
आकुल पुलके उलसिछो फूल-कानने,
द्युलोके भूलोके विलसिछो चल-चरणे,
तुमि चञ्चल-गामिनी ।

अन्तर माझे शुधु तुमि एका एकाकी
तुमि अन्तरव्यापिनी !
ऐकृटि स्वप्न मुग्ध सजल नयने,
ऐकृटि पद्म हृदय-वृन्त-शयने,
ऐकृटि चन्द्र असीम चित्त-गगने,
चारिदिके चिर-यामिनी ।

"हे विचित्ररूपिणी ! तुम जगत्में कितने विचित्र रूपोमे विचरण कर रही हो ! नील गगनमें तुम अयुत आलोकसे प्रभासित हो रही हो, फूल-काननमें पुलकित हो रही हो, द्युलोक और भूलोकमे तुम चञ्चलगामिनी अपने चल-चरणोके विलाससे तरङ्गित हो रही हो !

"अन्तरमें तुम एकदम अकेली व्याप रही हो ! मुग्ध सजल नयनमें एक स्वप्नके समान, हृदय-वृन्त-शयनमें एक पद्मके समान, असीम चित्त-गगनमें एक मात्र चन्द्रके समान स्थिर हो, जब कि चारों ओर चिर-यामिनी विराज रही है।"

अट्ठारहवी तथा उन्नीसवी शताब्दियोमें इगलैड तथा फ्रासके सभी रोमाण्टिक तथा मिस्टिक कवियोने इसी 'चित्रा' की बहुविध अर्चनामे अपना काव्य-भण्डार खाली किया है। इंगलैडके वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, ब्राउनिंग, टेनिसन आदि तथा फ्रासमें ह्यूगो (Hugo) लामार्तिन, बोदेलेयर (Baudelaire) आदि कवि इस सम्बन्धमे विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। जर्मनीमें गेटे (Goethe) अपने जगत्प्रसिद्ध काव्यात्मक नाटक Faust में (विशेष करके द्वितीय भागमे) इसी चित्रा-माया की छायामें पूर्णत मग्न हुआ है और हाइने (Heine) को तो आजीवन यह छाया भूतकी मायाकी तरह प्रबल प्रवेगसे अपनी ओर आकर्षित करती रही है।

विश्व-काव्य-साहित्यमें छायाका जाल विस्तृत रूपसे फैला हुआ होनेपर भी हमारे कुछ साहित्यिक तथा अधिकाश साहित्यानुरागी पाठकगण उससे परिचित

न होने तथा परिचित होने का कष्ट उठानेकी इच्छा न रखने के कारण हिन्दीकी छायावादी कविताओको समझ नही पाते और विश्व-साहित्यका ज्ञान न होनेके कारण उन कविताओको अर्थहीन कहकर उन्हे ठुकरानेकी विफल चेष्टा करते है। 'छाया' आखिर छाया ही है। वह जव स्वयं कविके लिये रहस्यमयी सिद्ध होती है तो पाठकोको वह और भी अधिक गहन रहस्यसे आवृत्त मालूम होगी, इसमें आश्चर्यकी कौनसी वात है! पर इसका तात्पर्य यह नही कि 'छायावादी' कविताएँ (मेरा आशय उच्चकोटिकी छायावादी कविताओंसे है) पागलके प्रलापकी तरह अर्थहीन होती है। यदि लोग चाहते है कि उनका अर्थ समझें तो उन्हे पहले विश्व-साहित्यका गहन अध्ययन करना होगा और उसके वाद आत्म-मनन द्वारा अपनी निजी अनुभूतिको विकसित करके कविकी अन्तरात्मासे समान-वेदन-जनित सम्बन्ध स्थापित करना होगा। तब जाकर वे उन कविताओका यथार्थ रस ग्रहण करने में समर्थ हो सकते है।

हिन्दीके अनेक साहित्यिक तथा साहित्य-प्रेमी कवितामे अस्पष्टताको एक बहुत वड़ा दोष मानते है। पर यह उनकी भ्रान्त धारणा है। भाषाकी कृत्रिम जटिलता तथा शैलीकी कठोर कुटिलताके कारण जो कविता अस्पष्ट होती है वह वास्तवमे निन्दनीय है। पर वहुत सी उच्चकोटिकी कविताएँ भावोकी गहनताके कारण अस्पष्ट जान पड़ती है। इस श्रेणीकी कविताओकी अस्पष्टता निन्दनीय नही, वल्कि अत्यत प्रशसनीय समझी जानी चाहिये।

प्रत्येक उच्चकोटि की कविता में कवि की आत्मा की निगूढतम आकाक्षाओ का आभास स्वप्नोके रूपमे झलकता है। पर स्वप्न एक ऐसी माया है जो कभी स्पष्ट हो ही नही सकती, इस वातका अनुभव प्रत्येक व्यक्तिको अपने रात-दिन-के स्वप्नोंसे हो सकता है। पर कोई भी स्वप्न प्रकटमे कैसा ही ऊटपटाग तथा अस्पष्ट क्यो न जान पडे, किन्तु वास्तवमें उसकी प्रत्येक घटना ज्वलन्त सत्यसे धडकती रहती है। यह वात Freud तथा Jung के समान मनस्तत्त्व-विश्लेषकोने अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दी है। आज तक स्वप्नोके सवधमे जनतामे कई प्रकारकी भ्रान्त धारणाएँ पाई जाती थी। अन्ध-विश्वासी लोग उन्हे भविष्यवाणियो-के रूपमे ग्रहण करते है, अन्धविश्वासोको ठुकरानेवाले विज्ञानवादी उन्हे आज-तक अर्थहीन मनोविकार कहकर उडा दिया करते थे। पर फ्रायड इन दोनो सिद्धा-न्तोको नही मानता। उसका कहना है कि प्रत्येक स्वप्नमें हम अपने Uncon-scious (जिसे हम अज्ञात चेतना कह सकते हैं) में छिपी हुई तथा अव्यक्त अज्ञात

आकाक्षाओकी चरितार्थताका सुख अथवा दु ख प्राप्त करते हैं—पर प्रकट तथा स्पष्ट रूपमें नही, अस्पष्ट तथा साङ्केतिक रूपमें। फ्रायडका कथन है कि स्वप्न कैसा ही विकृत और अर्थहीन क्यो न जान पडे, उसकी प्रत्येक असम्बद्ध तथा असङ्गत घटना विशेष अर्थ रखती है, पर साकेतिक रूपमे। अर्थात् प्रत्येक स्वप्न हमारी निगूढ आकाक्षाओका रूपक है। उसी प्रकार एक विशेष श्रेणीकी कविताएँ ऐसी होती हैं जो कवियोकी अन्तर्चेतनामे जागरित होने वाली अज्ञात आकाक्षाओको स्वप्नोके आकारमे वेष वदलकर साङ्केतिक रूपमें अपनेको व्यक्त करती हैं। कविकी अन्तरात्मा नही चाहती कि वह अपनी अज्ञात आकाक्षाओको नग्न रूपमें, लज्जारहित अवस्थामे अभिव्यञ्जित करे। इसलिये वह नाना रङ्गीन आवरणो, नाना रूपकोका सृजन करके इन्द्रजालमय बानेसे उन्हे ढककर हमारे सामने रखता है। स्मरण रहे कि इन रूपकोका मायावी पट वह सचेत अवस्थामे, जानबूझकर तैयार नही करता, वल्कि उसकी अज्ञात चेतना उससे यह कार्य करवाती है। उसकी अज्ञात चेतना जानती है कि नग्नता और स्पष्टता सौंदर्यके मूल रसको नष्ट कर देती है, इस कारण उसे मनोमोहक वनानेके लिये छायामय मायाके रङ्गीन जालका आवरण निर्मित होना आवश्यक है। आजकलके जो बने हुए वस्तुतन्त्रवादी (Pseudo-realists) नग्न रूपमें चित्रित की गई यथार्थताको ही कलाकी चरम श्रेष्ठता मानते हैं, उनकी अज्ञात चेतना विकृत हो चुकी है, यह बात निश्चित रूपसे कही जा सकती है। प्रकृतिके मूल केन्द्रमे सृष्टिकी निगढ वासनामयी प्रवृत्तिके जो बीज अव्यक्तरूपमें छिपे हुए हैं वे अपनेको आकाशके तारो, पृथ्वीके पत्र-पुष्पो और हरी-भरी लताओ, वर्षा, शरत्, वसन्त आदि ऋतुओकी नव-नव हिल्लोलमयी धाराओके रूपमे प्रस्फुटित होकर व्यक्त करते है—इन्ही स्वप्नोके रूपमे प्रकृतिकी अन्तरतम आकाक्षाएँ अभिरञ्जित होकर हमे आनन्द प्रदान करती हैं, और प्रकृतिके आभ्यन्तरिक भारको हलका करती हैं। अर्थात् अपने अन्तर्चेतनको रूपकके रूपमे व्यक्त करनेकी प्रवृत्ति मूल प्रकृतिमे ही वर्तमान है। यदि प्रकृति अपनेको इस प्रकार रूपकके रूपमे प्रकट न करती और अपनी अन्तरात्माको नग्न निर्लज्ज रूपमे व्यक्त होनेके लिये लालायित होकर ढोगी यथार्थवादियोका समर्थन करनेपर उतारू हो जाती, तो पृथ्वीमे प्रतिक्षण ज्वालामुखियोका प्रचण्ड अग्नि-उद्‌गीरण, समुद्रमें प्रतिपल उत्ताल तरङ्गमालाओका भयङ्कर विस्फूर्जन, आकाशमें निरन्तर मेघमालाओका रुद्र कोपमय वज्र-वर्षण तथा नक्षत्रोके रूपमे दिखाई देने वाले कोटि-कोटि महासूर्योका अहरह प्रलयङ्कर ज्वालामय सघर्षण

दृष्टिगोचर होता, क्योकि यही प्रकृतिके भीतरका नग्नरूप है। इसमें सन्देह नही कि इस नग्न रूपको प्रकृति कभी कभी बीच-बीचमे क्षणकालके लिये अभिव्यक्त कर बैठती है। ऐसे अवसरोपर समझ लेना चाहिये कि उसकी अन्तर्चेतनामे क्षणिक विकार उपस्थित हो गया है। इसमें सन्देह नही कि यह क्षणिक विकार भी कविता-के रूपमे (रौद्र रस के बतौर) परिणत किया जा सकता है, पर तभी जब वह प्रकृति-के मूल सामाञ्जस्यके ससर्गमे लाया जा सके।

यहाँपर प्रसङ्गवश यह जता देना भी आवश्यक है कि विकार न होनेपर भी साधारण अवस्थामे भी, जब कि प्रकृति सुन्दर स्वप्नो, नाना रसो तथा मनोहर दृश्योके रूपमे अपनी मूलात्माको अभिव्यक्त करती है, उस समय भी, उसके भीतर आलोडन-विलोडन किसी न किसी रूपमें जारी रहता है। यह स्वाभाविक है। जो क्रिया (Process) स्वप्नोका सृजन करती है उसकी प्रतिक्रिया उसे अभ्यन्तरके एक सिरेसे दूसरे सिरे तक आन्दोलित किये बिना नही रह सकती; हम उस आन्दोलनको भले ही न देख पाये।

प्रकृतिके स्वप्न-सृजनके सम्बन्धमे जो बाते कही गई है वे ही बातें कविके स्वप्न-सृजनके सम्बन्धमे भी कही जा सकती है, क्योकि कविकी प्रतिभाकी क्रिया भी प्रकृतिकी समान धारामे अज्ञातरूपसे चला करती है। कवि जिन स्वप्नोको कवितामें अङ्कित करता है उन्हे रचनेमे उसके अभ्यन्तरमे भीषण संघर्षण-विघर्षण-का आलोडन भी मचता है। उसे पाठक भले ही न देखें, पर वह कविको सक्षुब्ध किये रहता है।

हम देख चुके है कि कविके स्वप्न कविताके रूपमें रूपकके बतौर स्फुटित होते है। यह रूपक-रस काव्य-साहित्यमें कोई नयी वस्तु नही है। प्राचीनतम कालसे कविगण इस रसकी धारा बहाते चले आये है। पौराणिक गाथाओके कवि (प्राच्य तथा पाश्चात्य—सभी देशो मे) इस रसकी अजस्र धारासे साहित्य जगत्को आप्लुत कर गये है। कालिदासके मेघदूतमें यह रस लबालब भरा हुआ है। यक्षके विरह और वर्षाकी वेदनाके रूपमे वज्रशापकी जडतासे चिरस्तब्ध मानवात्माकी चिर-मिलन-व्याकुलता व्यक्त करके अलकापुरी-रूपी चिर-यौवन-के चिदानन्दमय राज्यके शाश्वत सुखकी प्राप्तिकी ओर उसकी चिर-उत्सुकता-का स्वरूप कालिदासने अमर रूपकके रूपमे वर्णित किया है। Freud ने स्वप्नको जिस Wish-fulfilment का Symbol बताया है, कालिदासके मेघदूतमे वह पूर्णत प्रतिफलित हुआ है। अठारहवी तथा उन्नीसवी शताब्दियो-

के यूरोपियन कवियोकी कविताओमे रूपक-रसके अतिरिक्त और कुछ नही पाया जाता। हमारे यहाँ वर्तमान युगमें रवीन्द्रनाथकी कवितामे यह रस जिस परिपूर्ण वेगसे उमडा है वैसा शायद ही ससारके किसी अन्य कविकी कवितामें सम्भव हुआ हो। वर्तमान हिन्दी-कवितामे भी हम उस रसको छलकते हुए देखते है। छायावादी कविताकी विशेषता और महत्ता इसी बातपर है कि वह इस रूपक-रसको अत्यन्त मनोहर तथा मुग्धकर रूपमे हमारे आगे रखनेमे समर्थ हुई है।

अपनी आत्माके निपीडनसे सुन्दर रूपकमय स्वप्नोको सृजन करनेवाले इन कवियोकी कविताओको 'अस्पष्ट' करार देकर उनकी अवज्ञा करनेसे काम नही चलेगा, बल्कि चेष्टा यह करनी होगी कि उन्हे समझनेके लिये अपनी आत्मानुभूतिसे उनकी आत्मानुभूतिकी कुञ्जी प्राप्त की जाय। कविकी कविता उसकी जीवनकालव्यापी साधनाका घन होती है। उसे एक चुटकीमें उडा देना अथवा सरसरी निगाहसे एक बार पढकर न समझ पानेपर उसे अर्थहीन करार देना, कवि तथा कविताके प्रति घोर अन्याय करना है। विश्वविद्यालयोमे शेली, कीट्स, कालेरिज, वर्डस्वर्थ आदिकी कविताओपर नोटपर नोट छात्रोको रटाये जाते है, तब भी छात्रगण उन्हें अच्छी तरह समझ नही पाते। यह होनेपर भी किसी साहित्यालोचकने यह नही कहा कि वे 'छायावादी' और अर्थहीन है। तब बेचारी हिन्दी कवितापर यह जुल्म क्यो? यह केवल अपनी मातृभाषाकी विवशताका अनुचित लाभ उठाना है।

अस्पष्टताके अलावा वर्तमान हिन्दीकवितापर एक और दोष लगाया जाता है। लोग अक्सर कहा करते है कि छायावादी कवियोकी कविताओमें घोर नैराश्य तथा गहन विषादकी प्रगाढ छाया पाई जाती है और जीवनका आनन्द, आशा तथा उल्लासकी किञ्चित् झलक भी उनमे नही पाई जाती। हमारे नवीन कवियोके सकरुण क्रन्दन तथा मन्द-मधुर वेदनके वर्णनोको वे लोग नपुसकता तथा निर्जीवताकी निशानी समझते है। वे लोग यह बात समझना नही चाहते कि प्राचीनतम कालसे कवि- लोग करुण अथवा विषाद-रसको ही प्रमुख रस मानते चले आये है। बल्कि भवभूति जैसे सर्वोत्तम कवियोने करुण-रसको ही एकमात्र रस माना है (एको रस. करुणमेव)। आदि कवि वाल्मीकिकी अन्तरात्मामें करुणा तथा विषादके भावसे प्रेरणा पानेसे ही काव्य-सागरकी अनन्त धाराएँ हिल्लोलित हो उठी थी। महाभारतमे काव्यकी दृष्टिसे हमें द्रौपदीके चीर-आकर्षण तथा कीचक द्वारा अपमानित होनेपर निस्स-

हायावस्थामें उसके आर्त विलाप, दमयन्तीकी निदारुण-निर्यातन-गाथा, आदि करुण तथा विषाद-रसपूर्ण घटनाओमें जो रस प्राप्त होता है, वह किसी वीररसपूर्ण अथवा भोगविलासमय वर्णनमे नही। रामायणकी सारी कथा विषादके भावसे ओतप्रोत है। राम-वनवासकी हृदय-विदारक घटना उस भावके केन्द्रमे स्थित है और सीता-वनवासकी मर्मघाती घटना इस महाकाव्यको Finishing touch दे देती है। तुलसीदासकी रामायणमें काव्योत्कर्षकी दृष्टिसे उस स्थानका वर्णन सबसे अधिक सुन्दर है जहाँ पर कविने भरतकी राम-विरह-जनित व्याकुलता, अनुशोचना, रोदन-क्रन्दनके साथ-साथ उनका विह्वल प्रेमोन्माद वर्णित करते हुए अन्तमें उस अवस्थामें उसकी परिणति दिखाई है जब भरत वनमें रामके समीप आकर

पाहि नाथ कहि पाइ गुसाईं।
भूतल परे लकुट की नाईं॥

भरतके इस आर्त क्रन्दन तथा मोहमग्न अवस्थाको भी हमारे 'धीर, वीर, गम्भीर' साहित्यालोचक नपुंसकताकी ही निशानी बतायेंगे, पर कवि-प्राण रसिक-जन इसी वर्णनमें काव्यका चरम सौन्दर्य पाते हैं।

यूरोपके अर्वाचीन साहित्यमें विषादकी रेखा प्रगाढ रूपसे अंकित है। शेक्सपियर, गेटे (Goethe), शिलर आदि नाटककारो तथा कवियोकी रचनाओमें विषाद-रस कूट-कूटकर भरा हुआ पाया जाता है। शेक्सपियर के 'हैमलेट'मे यह रस पराकाष्ठाको पहुँचा दिया गया है, गेटेके Werther तथा Faust में मानव-जीवनकी असफलता, मनुष्य-चरित्रकी दुर्बलता, स्वार्थमग्न संसारकी सकीर्ण-हृदयता आदि और भी कई निराशा-जनक कारणोके अस्तित्वसे जीवनकी व्यर्थताका चित्र प्रतिफलित हुआ है। बायरनकी निराशावादिताके कारण Byronism का मत चल गया है, इटलीमे Leopardi, फ्रासमें Lamartine, रूस आदिमें Poushkin प्रमुख लेखकोकी रचनाओमें विषाद ही केन्द्रगत भाव है। आधुनिक यूरोपियन साहित्यमे शायद ही कोई श्रेष्ठ लेखक ऐसा देखनेमे आवे, जिसकी रचना विषादके भावसे संश्लिष्ट न हो। शेलीका जीवन जिस प्रकार संकटाकुल था, उसकी कवितामें भी दुखकी वैसी ही प्रगाढ छाया पडी है। 'Blithe Spirit' अथवा 'Spirit of Delight' की खोजमें वह व्यस्त है, पर 'West Wind' की 'Wild Spirit' तथा 'Spirit of Night' के प्रगाढ अंधकारमय, सर्व-संहारक होनेपर भी नव जीवन और उज्ज्वलताकी सूचना-प्रदर्शक रूपपर वह जी जानसे मुग्ध है। और तो क्या, वर्डस्वर्थ तथा टेनिसनके

समान शान्त-प्रकृति कवियोकी कविता तकमें विषादका मृदु भाव पाया जाता है। लूसी नामकी एक छोटी लड़कीके कर्म-निरत, सेवापरायण निरानन्द तथापि शात, सयत तथा निर्विकार जीवनकी करुणा गाथाके वर्णनमे वर्ड्स्वर्थकी कविताका मूलभाव केंद्रीभूत होता है। टेनिसनकी कविता उसके 'Lotos Eaters' की 'Mild-minded Melancholy' (मन्द-मधुर-विषाद)से सर्वत्र आच्छन्न हुई है। इन दो कवियोके विषादके भावमें तथा गोल्डस्मिथके 'Deserted Village' और 'Vicar of Wakefield' के मूल-रसमें हैमलेटका तीव्र विद्रोह नही झलकता, इसमें सन्देह नहीं; पर इन कवियोकी कल्पनामें अनन्तके कठिन सनातन नियम (Eternal Law) के पदप्रान्तमे विरहिणी मुग्धा नायिकाकी सहनशीलताके साथ आत्मसमर्पण करनेका भाव प्रतिबिंबित होता है। ईसाका मत दु खके प्रति यही भाव पोषित करनेका उपदेश देता है। ईसाई धर्ममे दु ख धर्मका एक आवश्यक अग बतलाया गया है। ईसाकी "Blessed are they that mourn, for they shall be comforted" इस उक्तिमे यही भाव झलकता है। इसलिये यूरोपके कई श्रेष्ठ साहित्यिको तथा शिल्पियोने यह भाव अपनाया है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी चित्रकार मिलेने जब किसानो तथा मजदूरोके जीवनके मधुर चित्र अंकित किए, तो देशमें विषाद-रसका अपूर्व प्लावन बहा दिया, टाल्सटायने अन्य कई प्रसिद्ध चित्रकारो तथा कलाकोविदोकी तीव्र निंदा करते हुए मिलेके संबंधमे लिखा था कि विषादका विशुद्ध तथा पवित्र भाव दरसानेके कारण उसके चित्र ईसाई-धर्मके अनुकूल है। रूसो, उसके भक्त टाल्सटाय, तथा इन दोनोके भक्त रोमाँ रोलाँ—इन तीन मनीषियोने ईसाके आडबरहीन, सच्चे अनुयायी होनेके कारण, अपने हृदयमें स्थित विषादके भावको गर्वके साथ अपनाकर उसे महिमान्वित किया है।

कालिदासके मेघदूतमे चिर-विरहज विषादका ही सकरुण, पर मधुर तथा आनदयुक्त गान गीत हुआ है, 'कुमार-संभव'मे पार्वतीकी कठिन तपस्या, विशुद्ध तथा स्थायी प्रेमके लिये आवश्यक कठिन त्याग तथा दु खकी चिरकालिक महिमाका ही प्रतिरूप है। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' यद्यपि सुखात नाटक है, पर उसे पढ़नेपर, अन्तमे दुष्यत तथा शकुन्तलाका मिलन संघटित होनेपर भी, हृदयमें दु खिनी शकुन्तलाके नियम-क्षाम मुखकी विषाद-म्लान छाया ही घिरी रहती है। उत्तररामचरित में भी रामसीताके अतिम मिलनके कारण, हृदयमे अंकित

निर्वासिता सीताका 'विग्ना कुररीव' दीर्ण क्रंदन किसी तरह मिटना नही चाहता।

ऐसा क्यो होता है? मनुष्यको आनदके विशुद्ध भावसे विरह-मिश्रित आनद क्यो इतना सुखकर प्रतीत होता है? कोरे सुखके हास्यसे स्नेह-गलित आनदाश्रु क्यो प्रिय मालूम होते है? नवीना किशोरीकी प्रेम-जनित चंचलतासे परिणतयौवना रमणीके मातृ-हृदयका विह्वल गाभीर्य क्यो मधुरतर जान पडता है? मनुष्यकी यह विषाद-ग्राहिणी प्रवृत्ति अत्यत रहस्यमय है। वसंतके उज्ज्वल प्रभातसे शरत्-कालकी प्रशात सध्या हृदयमे अधिक उत्सुकता उत्पन्न करती है। नदीके चचल कलहास्यसे समुद्रका विकराल गाभीर्य कवियोको अधिक मोहित करता है। उद्यानकी रमणीयतासे अरण्यकी मर्मरध्वनि चित्तको अधिक आदोलित करती है। मै पहले कह चुका हूँ कि रवीद्रनाथको छायाके भावने अधिक मोहित किया है। व्यक्तके पीछे वह सदा अव्यक्तकी छायाके सधानमे रहे है। उज्ज्वलताके दृश्यसे उनके हृदयमे अंधकारकी छाया घनीभूत हुई है। विषादके गाभीर्यका उन्होने गौरवके साथ वर्णन किया है। अपनी एक कवितामे वह स्वय लिखते है कि "यदि आज मेरी प्रिया जीवित होती तो उसे मै अपने हृदयमे स्थित विषादकी वृहत् छाया तथा सुगभीर विरह व्यक्त करके दिखलाता।" इसी बातको उन्होने फिरसे समझाया है—"जिस प्रकार दिनका अवसान होनेपर रात्रिके अंधकार निलयमें विश्व अपने ग्रह-तारकाओको लेकर प्रकट होता है, उसी प्रकार हास्य-परिहाससे मुक्त इस मेरे हृदयमें वह अतहीन जगत्का विस्तार देखती।" आत्माकी विपुलता अधकारकी विजनतामें ही प्रकट होती है। उज्ज्वलता मे चाचल्यका भाव वर्तमान रहता है, और अधकारमे एक प्रकारका स्थायित्व है। इसी कारण अधकारकी स्तब्धता कवियोको इतनी प्रिय है। संध्या ताराके स्तिमित प्रकाशमें एक प्रकारके मधुर तथा स्थायी विषादका भाव वर्तमान है। इसलिये कितने ही कवियोने कितने ही प्रकारसे इसके सौंदर्यका वर्णन किया है, पर फिर भी उन्हे तृप्ति नही हुई।

वर्तमान हिन्दी कविताकी अस्पष्टता, उसके रूपकमय रूप, विषाद-रस आदिके सबधमे मैंने जो कैफियते पेश की है वे योही नही। अगरेजीकी इस मशहूर मसल्से सभी परिचित है कि दोषी आत्मा सदा शङ्कित रहती है। मेरा भी यही हाल है। मुझे भी यह शङ्का है कि विद्वज्जन मेरी कविताओको पढकर उनपर ये ही दोष आरोपित करेंगे। क्योकि यद्यपि मुझे अपनी कविताएँ जलवत् तरल, और आलोक-

रश्मिवत् सरल मालूम पडती है, तथापि सम्भव है बहुत-से पाठकोको वे कठिन और कुटिल जान पडें। इसके अलावा मेरी अधिकाश कविताएँ रूपकमय है और उनमे विषाद-रसकी प्रबलता है। इसलिये मुझे वर्तमान हिन्दी कविताओकी आलोचनामे उक्त 'दोषो'की सफाई देनी पडी है। पर केवल इतनीसी सफाईसे मेरा काम नही चलेगा। 'परिमल'की भूमिकामे निरालाजीका यह कथन मुझे अत्यन्त उपयुक्त जान पडा कि अपनी कविता-पुस्तककी भूमिकामे स्वयं अपनी ही कविताओके सम्बन्धमे प्रकाश डालनेका प्रयत्न मूर्खतापूर्ण तथा हास्यास्पद है। (निरालाजीके शब्द मुझे याद नही है, पर जहाँ तक मेरा खयाल है, उनका आशय कुछ इसी प्रकारका था।) मै इस प्रकारकी चेष्टाकी हास्यास्पद मूर्खताको भली भाँति महसूस करते हुए भी अपनी कुछ विशिष्ट कविताओंके सम्बन्धमे कुछ कहनेके लिये इस कारण विवश हूँ कि मेरे कुछ साहित्यिक मित्रोने मुझे इसके लिये अनुरोध किया है। 'विशाल भारत' के सुयोग्य तथा विद्वान् सह-सम्पादक श्री व्रजमोहन वर्माने भी मुझे यही राय दी है। मैने इस सग्रहकी सब कविताएँ वर्माजीको पढनेके लिये दी थी। उन्हे यद्यपि उन कविताओमेसे किसीका भी भावार्थ समझनेमे कही किसी प्रकारकी रुकावट नही पडी और उन्होने प्रत्येक कविताका वही अर्थ लगाया जैसा कि मेरे मनमें कविता लिखते समय वर्तमान था, तथापि उन्होने इस बातकी आवश्यकता महसूस की कि पुस्तककी भूमिकामे कविताओके रूपकात्मक भावोके सम्बन्धमें थोडा-बहुत प्रकाश डाला जाय। अतएव मै इस सम्बन्धमें दो शब्द कहना आवश्यक समझता हूँ।

सबसे पहले मै अपनी 'राजकुमार' शीर्षक कवितापर यत्किञ्चित् प्रकाश डालना चाहता हूँ। इस कविताके सम्बन्धमे साहित्यके पारखियोका कहना है कि छन्द-सङ्गीत, भाषा-लालित्य तथा रचना-वैचित्र्यकी दृष्टिसे कविता सुन्दर होने-पर भी उसका रूपकात्मक भाव समझमें आना कठिन है। मेरी तुच्छ सम्मतिमें यदि पाठक विरोधी सस्कारोको मनसे हटाकर कविताका यथार्थ भाव जाननेकी इच्छासे इसे पढे तो उन्हे मालूम होगा, उसका मनोवैज्ञानिक रूपक अत्यन्त स्पष्ट तथा सरल है। उक्त कवितामे एक निर्मल, निष्कलुष तथा निर्लिप्त आत्माके उन्मेष, विकास तथा ह्रासका मनोवैज्ञानिक वर्णन रूपक-रसकी दृष्टिसे किया गया है। हिमकी उज्ज्वल शुभ्रताको मै सर्वदा पवित्रताका Symbol मानता आया हूँ। इसलिये मेरे राजकुमारकी निवासभूमि—

शुभ्र-शान्त-हिम-महिम असीम विजनमें

होनेसे उसकी पारिपार्श्विक स्थिति उसकी निर्मल आत्माके पूर्णत अनुकूल है। जिन लोगोने कभी जाडोमे पहाडोपर बरफ गिरते हुए नही देखी अथवा कभी 'हिमालय'के दर्शन नही किये वे इस बातकी कल्पना तक नही कर सकते कि हिमराशि अथवा हिमानीकी शुभ्र उज्ज्वलता क्या चीज है। यह बात बिना अतिशयोक्तिके कही जा सकती है कि यदि अमावस्याकी घन मेघाच्छन्न अधकार रात्रिमे भी जमीनपर बरफ बिछी हुई हो तो उस बरफकी सफेदीके कारण चाँदनी रातका भान होने लगता है, फिर चाँदनी रातके संबधमे कहना ही क्या है ! तब तो परिस्तान भी उस दृश्यके आगे नाचीज मालूम होता है। अस्तु। इस प्रकारकी शुभ्र-श्वेत नीहार-राशिके बीच 'हिमकी स्फटिक शिलासे रचित भवनमे' नित एकाकी रहने वाले राजकुमारकी निष्कलङ्क आत्मा नित उल्लसित रहेगी, इसमे आश्चर्य ही क्या है !

हिमकी केवल शुभ्रता ही पवित्रताकी द्योतक नही है, बल्कि उसका शैत्य (ठण्ढक) भी इसी भावको जताता है। कवियोने यौवनोन्मादकी उपमा अग्निसे दी है और उत्कट काम-लालसाको लोग प्राय कामाग्नि कहा करते है। इसके विपरीत कामेच्छासे विरतिको अगरेजीमें frigidity कहते है, जिससे बरफकी तरह जम जानेका भाव व्यक्त होता है। शेक्सपियरने भी As chaste as ice (हिमके समान काम-वासना-रहित), इस भावके द्वारा स्त्रीकी अकाम मनो-वृत्तिका वर्णन किया है।

मेरे राजकुमारकी आत्मा अपनी प्रभातकालीन अवस्थामे हिम-महिम असीम विजनमे निर्जन-निर्वासकी दशामे रहने और नित्य अपने भीतर तथा बाहर, सर्वत्र, एक ही निर्विचित्र रूप (अथवा यो कहिये कि अरूप—क्योंकि हिमकी शुभ्रताका कोई रूप या रङ्ग नही होता) के दर्शन करते हुए अलस शान्तिमे मग्न रहती थी—

> एक रूप प्रतिबिम्बित था उस मनमें,
> प्रतिभासित थी हाय एक ही ज्योती !
> शून्य हृदयके उस निःस्पन्द विजनमें
> अलस शान्ति थी झूम-झूमकर सोती।

तथापि वह अपने आपमें ही मग्न रहकर परिपूर्णताके उल्लाससे उच्छ्वसित रहता था। यह दशा केवल मेरे राजकुमारकी ही नही, वैदान्तिकोकी भाषामें प्रत्येक

२

जीवात्माकी प्रारम्भिक अकलुष अवस्था इसी प्रकारकी होती है। पर धीरे-धीरे उसपर मायात्मिका प्रकृति अनेक रूप, बहुरङ्ग, तथा रस-वैचित्र्यका जाल फैलाने लगती है और वह अपनी निर्विचित्रता तथा एक-रूपतासे उकताने लगती है। मेरे राजकुमारका भी वही हाल हुआ। उसपर यौवनकी रङ्गीनी छाने लगती है और वह जीवनकी बहुरङ्गी वर्णच्छटा, तथा नाना रूप-रस-गन्धमय लुब्धताकी ओर धावित होनेके लिये छटपटाने लगता है। उसकी इस अनन्त रङ्ग-तथा अपार तरङ्गमयी अभिलाषा अथवा वासनाकी तृप्ति अलकापुरीके चिर यौवनमय तथा सदाबहार प्रदेशमे ही अच्छी तरह हो सकती थी। इसलिये मैंने उसे वहीं रूप-रङ्ग, यौवन-उमङ्ग तथा अमर-अनङ्गकी मुक्त तरङ्गमे लाकर खड़ा किया है। शुभ्र हिम-महिम असीम विजनसे, जहाँ चारो ओर केवल अनन्त-प्रसारित हिमकी एकरूपताके अतिरिक्त और कुछ दृष्टिगोचर नही होता था, अलकापुरीके बहुरङ्गी मायामय लोकका अच्छा contrast (विरोधाभास) मुझे जान पड़ा।

अलकामे विविध-रूप-रस-गन्धकी विचित्रताका मनमाना उपभोग कर चुकनेके बाद राजकुमार अघाने लगता है। और

धीरे धीरे एक कालिमा-छाया
लगी हाय दोनोके मुँहमें छाने,
अवश हुई लालस-रस-विजड़ित काया,
कलुषित यौवन-कली लगी कुम्हलाने।

यौवनोन्माद ठण्डा पडनेसे केवल राजकुमारकी आत्मामे ही क्रान्ति नही मची, उसकी पारिपार्श्विक अवस्थामे भी परिवर्तन होने लगा। उदाहरणार्थ, कनक-शैलकी दीप्ति अस्तङ्गत हुई, अलकाकी स्वर्ण-रेणुकी रङ्गत किरकिरी हो गयी और वह तुच्छ धूलि-सी आकाशमे उडने लगी। असल बात यह है कि रेणु वास्तवमे स्वर्णकी नही थी, केवल यौवनकी मायाने उसे वह लोक-प्रवञ्चक रूप दिया था। यौवनकी उमङ्ग शिथिल पड़नेपर सब चीजे अपने यथार्थ रूपमे दिखाई देगी, इसमे आश्चर्यकी कौनसी बात है?

राजकुमारको फिरसे अपने हिम-लोक, हिम-भवन और हिम-परियोकी याद आने लगी और वह

बहुरङ्गी मायाका तजकर अञ्चल
शुभ्र रूपके चरणोमें रोनेको

छटपटाने लगा। अर्थात् वह फिरसे बहुरूपात्मिका प्रकृतिके मायाजालसे छुटकारा पाकर अरूपकी शुभ्र शान्तिमे विलीन होनेके लिये लालायित हुआ। लगन जो लगी तो वह माया-बन्धन तोडकर उसी हिमलोककी ओर लौट चला। पर हाय! अब वहाँका रास्ता ही भूल गया था और लाख स्मरण करनेपर याद न आता था। कभी कण्टकाकीर्ण जङ्गलोमे ठोकरें खाता, कभी गहन गह्वरयुत गिरिपर चढता। पर व्यर्थ भटकनेके सिवा कुछ हाथ नही आता था। ज्यो-ज्यो वह विगत जीवन-पथकी ओर अग्रसर होता था त्यो-त्यो मानो अपने लक्ष्यसे अधिक दूर हटता चला जाता था। यह जैसे किसीका वज्रशाप था जो किसी भी दुर्दमनीय प्रयत्नसे टूट नही सकता था!

जो अनुभव मेरी कविताके रूपकात्मक राजकुमारको हुआ है, मेरी धारणा है कि अधिकाश भावुक व्यक्तियोको अपने जीवनके मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक विकासमे ठीक वैसा ही अनुभव होता है। शैशवावस्थासे लेकर कैशोरावस्था तक भावुक व्यक्तिकी आत्मा निष्कलुष जीवनकी पुनीत धारामे निर्द्वन्द्व रूपसे तरङ्गाय-मान होती रहती है और उसके अन्तर्जीवनका रूप-रङ्ग-रहित निर्मल वातावरण शुभ्र-पुण्यकी स्वच्छ, सुशीतल, तुषारोज्ज्वल महिमासे मण्डित रहता है। पर जब धीरे-धीरे यौवनका मधुर मोह अङ्ग-अङ्गको अपने लालस-आवेशसे अलसित करने लगता है और तरुण करुण जीवनका बहुरञ्जित राग नयन-किरणोमे मदिर तथापि करुण रूपसे सरसाने लगता है तो उस चित्रात्मिका मायाके नशेमे उसकी सर्वात्मा मग्न हो जाती है। अन्तमे प्रकृतिके वज्र-कठिन नियमके फलस्वरूप जब उसका उन्माद ढीला पड जाता है और आँखे खुलने लगती है तो वह अपनी अवस्था देखकर आतङ्कित हो उठता है और फिरसे उसकी अन्तरात्मा अपने पुनीत कैशोर जीवनके स्निग्ध शान्त क्रोड़मे लौट जाना चाहती है। पर कोटि उपाय करनेपर भी फिर वह अपने विगत जीवन-मार्गकी ओर लौटनेके लिये अपनेको समर्थ नही पाता। वह पीछेकी ओर देखता है, पर जिस पथसे वह यौवनके प्राङ्गणमें आया था, वहाँ कुटिल कण्टकाकीर्ण अरण्यका जटिल जाल फैला हुआ पाता है। वह समझ जाता है कि जीवन-चक्रने उसे जिस अज्ञात पथपर लाकर खडा कर दिया है उसके और कैशोर जीवन-लोकके बीचमे वज्र-कठोर व्यवधान पड गया है। वह सर पटकता रह जाता है और जीवनके अन्त तक अधकारमे भटकता ही रहता है।

मानव-जीवनकी इस चिर-रहस्यमय, आतङ्कोत्पादक 'ट्रेजेडी'को अपनी 'राज-कुमार' कवितामे रूपकके बतौर चित्रित करनेका प्रयास मैंने किया है। अपने इस

प्रयत्नमे मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ, इसका विचार केवल गुणीजन ही कर सकते हैं।

'राजकुमार'की व्याख्या मैंने किञ्चित् विस्तृत रूपसे इसलिये की है कि सहृदय तथा सुधी-पाठकगण मेरी अन्यान्य कविताओके रूपकोपर भी इसी ढँगसे विचार करेंगे। दूसरी कविताओके सम्बन्धमे मुझे अधिक कुछ कहनेकी आवश्यकता नही पडेगी, क्योकि अब पाठक मेरी कविताओकी रूपकात्मक शैलीका स्वरूप समझ चुके होगे। तथापि सक्षेपमें दो-चार कविताओके सम्बन्धमे कुछ सङ्केत कर देना चाहता हूँ।

'विजनवती' मे मैंने विजनकी उस अमूर्त प्रतिमाका 'ट्रेजिक' गीत गाया है जिसमें मैंने अपने मानसकी मूर्तिमती जीवित प्रतिमाका प्रतिरूप पाया है।

'दमयन्ती'मे मैंने 'दमयन्ती'के करुण जीवनके विषादमय छायाके background मे स्वय अपने खिन्न मानसको प्रतिष्ठित करके उस विशेष कोणसे जीवनके अनन्त आनन्दमय स्वप्नोका नि शेष उपभोग करना चाहा है। दमयन्तीको जिन स्वप्नोकी मायासे मैंने दिलासा देना चाहा है वे स्वयं मेरे नाना अभिघातोंसे विताडित जीवनके नाना रसात्मक, आदर्शमय स्वप्नोके रूपकात्मक रूप हैं।

'नरक-निर्वासी' में मैंने अपनी उस मनोवैज्ञानिक अवस्थाका वीभत्स वर्णन किया है जब कि मेरा समस्त अन्तर्चेतन घोर अंधकारमय गहन गह्वरकी आतङ्कप्रद विभीषिकामे परिपूर्णरूपसे निमज्जित था। मै पुण्य प्रकाशके लिए छटपटा रहा था, अधकारमें टटोलता हुआ ऊपर आनेका मार्ग ढूँढ रहा था, पर 'स्तर-स्तरपर दुस्तर प्रस्तरों' का ऐसा वज्र-कठोर अवरोध मेरे ऊपर पडा हुआ था कि उसे लाँघना मै असम्भव मालूम कर रहा था। तथापि उस भयावह, घन-तमसाच्छन्न पङ्किलतामे पुण्यमय मर्त्यजीवनकी दिव्य-विभूति, उसके सुख-दु खमय चिर-गतिशील प्रवाहपर अज्ञातरूपसे वर्षित होने वाली अमर ज्योतिकी करुण किरणधारासे मेरा अज्ञात चेतन निरन्तर आन्दोलित होता रहता था।

'महाश्वेता' शीर्षक कविता लिखने की प्रेरणा मुझे 'कादम्बरी' की 'महाश्वेता'के चरित्रसे अवश्य प्राप्त हुई, पर इस कविताका मूल भाव औपन्यासिक महाश्वेताके व्यक्तित्व तक ही सीमित नही है। इसमे मैंने विश्वनारीके महामङ्गलमय रूपके विभिन्न स्वरूपोका विचित्र सम्मिश्रण रूपकात्मक ढँगसे व्यञ्जित करनेकी चेष्टा की है। महत् त्याग, अविचल सहिष्णुता, उज्ज्वल श्री, विह्वल ह्री, सकरुण सुकुमारता, सरस, स्निग्ध स्नेहशीलता, शुभ्र तुषारोपम कठोर पवित्रता तथा प्रज्व-

लित वह्निसम दीप्त तेजका जो समन्वय कल्याणीया मातृजातिमे वर्तमान है उसे मैंने महाश्वेताके रूपकमें बाँधनेका दुस्साहस किया है।

'मायावती'मे निखिल प्रकृतिके क्रन्दनोच्छ्वास तथा हासोल्लासमय रूपकी द्वन्द्वमयी लीलाका चित्रण करनेका प्रयास किया गया है। यह द्वन्द्व भाव मुझे बाह्य प्रकृति तथा (पुरुष और नारीकी) अन्त प्रकृति दोनोमे ही समान धाराओमे प्रवाहित होते हुए दिखाई दिया है।

'शकुन्तला'के सम्बन्धमे यद्यपि बहुत कुछ कहनेकी गुन्जाइश है, तथापि मैं इसके विषयमे यहाँ पर अधिक नही कहूँगा। केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि कालिदासकी इस मानस-कन्याको मै बहुत पहले अपनी आदर्श मानसी प्रतिमाके बतौर अपनी आत्माके अन्त पुरमे प्रतिष्ठित कर चुका था और उसे अपने हृदय राज्यकी महिमा-मण्डित रानी मान चुका था। इसलिये पति-प्रवञ्चिता, आश्रम-परित्यक्ता, निर्यातिता नारीको उसकी चरम असहाय अवस्थामे प्रदर्शित करके मैने अपनी आत्मामें उसके प्रति अधिकाधिक समवेदना उभाडनी चाही थी, ताकि मै उसकी स्वप्न-प्रसूत आत्माको परिपूर्ण रूपसे अपनाकर उसे अपनी 'प्यारी ललिता' के बतौर द्विधाहीन भावसे ग्रहण कर सकूँ, और उसके स्वप्न-सङ्गमे व्यावहारिक जगत्की क्रूर कठिनाइयोको भुला सकूँ।

मेरी 'सेविका' शीर्षक कविता प्राय दस वर्ष पहले लिखी जा चुकी थी और 'राजकुमार' प्राय ६ साल पहले। इसलिये यदि इन कविताओ मे तथा जैनेन्द्र-कुमारजी लिखित 'परदेसी'-शीर्षक नाटिकामे (जो अक्टोबर १९३६ की 'सरस्वती' मे प्रकाशित हुई है) भावात्मक साम्य पाया जाता हो तो इसके लिये मै उत्तरदायी नही हूँ। मेरा अभिप्राय जैनेन्द्रकुमारजी पर किसी प्रकारका दोषारोपण करनेका नही है। मै इस बातपर कदापि विश्वास नही कर सकता कि उन्होने मेरी कविताओसे भाव चुराया है। मै इस बातका उल्लेख भी न करता यदि मेरे तीन-चार साहित्यिक मित्रोने मेरी हस्तलिखित कापियाँ देखकर मुझपर उलटा जैनेन्द्रकुमार-जीसे भाव चुरानेका दोष न लगाया होता। कही अन्यान्य पाठकोके मनमे भी इसी प्रकारकी धारणा जम न जाय, इसलिये मैंने कविताओके नीचे रचना-काल दे दिया है और भूमिकामे अपनी सफाई के लिये इतना-सा कह देना आवश्यक समझा है। मै मानता हूँ कि यह मेरी भीरुता है, पर सम्भवत. मेरी स्थितिमे यह क्षम्य है।

अपनी शेष कविताओके सम्बन्धमे मै अभी चुप रहना ही श्रेयस्कर समझता हूँ

और मेरा खयाल है कि उनके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी कैफियत देनेकी कोई आवश्यकता भी नही है, क्योकि उनके भाव स्वत स्पष्ट है।

अन्तमें अपनी भाषाके सम्बन्धमे दो बाते लिखकर मै यह नीरस भूमिका समाप्त करना चाहता हूँ। मै जानता हूँ कि अपनी भाषाके सम्बन्धमे स्वय कुछ लिखना अशोभन है, पर एक विशेष कारणसे मुझे इस विषयकी चर्चा आवश्यक प्रतीत हुई है। हिन्दीके प्रसिद्ध तथा सुयोग्य साहित्यालोचक प० शान्तिप्रिय द्विवेदीने अपनी एक आलोचनात्मक पुस्तकमे मेरी भाषाका उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसमे 'बँगलाका आदान' पाया जाता है। पता नही द्विवेदीजी जैसे विचक्षण व्यक्तिके मनमे ऐसी भ्रान्त धारणा कैसे उत्पन्न हो गयी। इसका एकमात्र कारण केवल यही जान पडता है कि उन्हे मेरी अधिकाश कविताओको पढनेका अवसर नही मिला, और जो दो-चार कविताएँ उन्होने पढी भी है वे जल्दबाजोमें। इसके अलावा और कोई दूसरा कारण मुझे नही दिखाई देता। मुझे इस बातका पूर्ण विश्वास है और मै दावेके साथ कह सकता हूँ कि मैने बँगलासे आधा शब्द भी कही नही लिया है और न बङ्गाली कवियोसे मुझे भाव या भाषामे कही लेशमात्र प्रेरणा ही मिली है। मुझे इन भारतीय कवियोसे प्रेरणा प्राप्त हुई है—सस्कृतमे मुख्यत कालिदास, भवभूति, बाण, जयदेव आदिसे और हिन्दीमे तुलसीदाससे। और इन्ही कवियोने मेरे शब्दकोषको भी बढाया है। इन कवियोके अलावा ऋग्वेद, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोसे तथा सस्कृतके छोटे-मोटे बहुतसे कवियो (जैसे घटकर्पर, दण्डी, विह्लण, गोवर्द्धनाचार्य, अमरुक, जगन्नाथ आदि) के अध्ययनसे भी मेरा शब्दभाण्डार वर्धित हुआ है। अतएव सस्कृतसे अपरिचित और बँगलासे यत्किञ्चित् परिचित कोई व्यक्ति भले ही यह कहनेकी भूल करे कि मेरी कवितामें 'बँगला का आदान' है, पर मित्रवर शान्तिप्रियजीसे मै ऐसी आशा नही कर सकता था। इसलिये मेरा विश्वास है कि जल्दबाजीके कारण वह ऐसी बात कह बैठे है। बहुत सम्भव है, मेरे अज्ञातमे मुझे भाषाके सम्बन्धमें कही-कही एक आध स्थानमें रवीन्द्रनाथसे भी प्रेरणा मिली हो, तथापि मै दावेके साथ कह सकता हूँ कि रवीन्द्रनाथ द्वारा अपनाया गया कोई भी ऐसा सस्कृत शब्द मेरी कविताओमें कही नही आया जिसे वर्तमान हिन्दी कविताके आचार्यों (प्रसाद, पन्त, निराला आदि) ने न अपनाया हो। मैने ठेठ बँगला शब्दोकी बात तो दूर रही, बङ्गालियो द्वारा विशेषरूपसे अपनाये गये बँगला शब्दोका व्यवहार भी बहुत कम किया है, तथापि मेरी भाषा 'आदानी' मानी गयी है, इसे मेरे दुर्भाग्यके सिवा और क्या कहा जा सकता है!

निस्सन्देह मैंने बँगलाके दो चार ऐसे शब्दोको ग्रहण किया है जिन्हे बगाली लेखकोने हिन्दीसे अपनाया है। जहाँ-जहाँ मैंने इस प्रकारके शब्दोको अपने भाव और छन्द-सङ्गीतके उपयुक्त समझा है वहाँ-वहाँ मैंने इरादतन् उनका उपयोग किया और ऐसा करनेका अपनेको पूरा अधिकारी समझा है।

शान्तिप्रियजीने मेरी भाषाके सम्बन्धमे एक ऐसी पतेकी बात लिखी है जो मुझे बहुत जँची। उन्होने लिखा है, उसमे 'परुष सुकुमारता' पायी जाती है। मै अपने आप अपनी भाषाके वास्तविक स्वरूपकी ठीक-ठीक परख करनेमे असमर्थ था। तथापि मै चाहता था कि मेरी भाषा मेरे भावोके पूर्णत अनुरूप हो। मै नही चाहता था कि मेरी कविताओमे स्त्रैण भावोका समावेश हो, तथापि कठिन, कठोर, परुषतासे भी मै बहुत घबराता हूँ। मेरी ऐसी धारणा है कि मेरी कविताओके भाव भी 'सपरुष सुकुमार' ही है, अतएव यह जानकर मुझे अतीव प्रसन्नता हुई कि मेरी भाषा भी मेरे भावोके अनुरूप है। मै यद्यपि सरस, सुललित, कोमल-कमनीय भाषाका गुण-ग्राहक हूँ, तथापि मेरा विश्वास है कि उच्च और गम्भीर भावोके वर्णनके लिये कालिदासकी मेघदूती भाषाका स्निग्ध-गम्भीर-घोषात्मक रूप ही सुन्दर जँचता है, जिसमे सरसता और सजलताके साथ गुरुत्व भी हो। यहाँपर प्रसङ्गवश मुझे रवीन्द्रनाथकी एक बात याद आ रही है। उन्होने अपनी किसी एक पुस्तकमे लिखा था कि कोमल-कान्त-पदावलीके आचार्य, गीत-गोविन्दके सुप्रसिद्ध रचयिता जयदेव कविकी ललित-लवङ्गी भाषा यद्यपि अत्यन्त सरल और सुकोमल है, तथापि इसकी सरसता केवल बाह्येन्द्रिय को तृप्त करके ही रह जाती है, अर्थात् वह रसज्ञके मर्ममे प्रवेश नही कर पाती। जयदेवके प्रसिद्ध पद 'ललित-लवङ्गलता-परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे' आदिकी तुलनामे उन्होने कालिदासका निम्न पद उद्धृत किया था—

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्
वासो वसाना तरुणार्क रागम्।
पर्याप्त पुष्पस्तबकावनम्रा
सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव ॥

इस श्लोकके सम्बन्धमे रवीन्द्रनाथने लिखा था कि इसकी भाषाकी सकठिन-कोमलता, इसकी गतिका उत्थान और लय मिलकर जादूका ऐसा मन्त्र-सा फूँक देते है कि वह अन्तरिन्द्रियको तीव्र वेगसे आन्दोलित करता है। इसके अतिरिक्त इसके अन्तरीण भावके रसोच्छ्वासने भी इसकी सपरुष-सुकुमार भाषाके शब्द-

सङ्गीतको श्रुति-मधुर बना दिया है। असल बात यह है कि श्लोककी भाषा उसके भावके अनुरूप है और भावमे सरस गाम्भीर्य होनेसे तदनुरूप सपरुष-सरस भाषाने उसका माधुर्य बढ़ा दिया है। कालिदासकी भाषा सर्वत्र इसी ढँगकी है और दण्डीकी तरह पद-लालित्यके पीछे पागल होकर उन्होने अपने भावको खर्व करना नही चाहा है।

मैंने अपनी कविताओमें भावके अनुरूप बहुत-से नये शब्दोको सिरजा है और सङ्गीत तथा ध्वनिको ध्यानमे रखकर संस्कृतके बहुतसे शब्दोको मनमाना रूप दिया है। मै जानता हूँ कि कवियोकी इस निरकुशताको भाषातत्त्व-वेत्तागण अक्षम्य समझते है। तथापि आशा करता हूँ कि रसज्ञजन रसकी ओर अधिक ध्यान देकर मेरी यह धृष्टता क्षमा करेंगे। मै भाव, रस और छन्द-सङ्गीतको भाषातत्त्वके नियमोसे अधिक महत्त्व देता हूँ और यदि किसी शब्दको तोडने-मरोड़नेसे भावाभास, रस-माधुर्य तथा सङ्गीतकी झनकारमे वृद्धि होनेकी सम्भावना हो तो मै ऐसा करनेमे कोई दोष नही देखता।

अपने मध्य-विरामात्मक छन्दके सम्बन्धमे मुझे केवल इतना ही कहना है कि काव्य-साहित्यमें इस प्रकारका छन्द कोई नयी चीज नही है। कविताके बीचमे भाव तथा अर्थके अनुरूप इच्छानुसार जहाँ-तहाँ पूर्ण-विराम तथा अर्द्ध-विराम देनेकी प्रथा यूरोपियन कवियोमे बहुत पहलेसे प्रचलित थी। हमारे यहाँ भी सस्कृत कवियोने इस ढँगको कही-कही अपनाया है और पदके बीचमें एक वाक्य समाप्त करके आधे पदसे दूसरा वाक्य प्रारम्भ किया है। बङ्गालमे पहले-पहल माइकेल मधुसूदन दत्तने अपने अमित्राक्षर छन्दकी रचनाओमे पदके बीचमे वाक्य समाप्त करनेकी शैली प्रचलित की। उनके बाद रवीन्द्रनाथने इसका भूरि-भूरि उपयोग किया। ऐसे छन्दोमें यह सहूलियत रहती है कि भावके धारा-प्रवाहका वेग अविराम गतिसे बिना किसी बाधाके आगेको बढा चला जाता है। इस प्रकारकी कविताओके पाठमे कुछ लोग असुविधा मालूम कर सकते है, पर वास्तवमे बात ऐसी नही होनी चाहिये। छन्दके बीचमें जहाँ-जहाँपर विराम आता है वहाँ एक साधारणसे Accent द्वारा वह जताया जा सकता है और पढनेवाला मन ही मन उस विराम-की अर्थ-व्यञ्जना ग्रहण करता हुआ छन्दकी गति और यतिमें कोई बाधा न मानता हुआ आगेको बढ़ा चला जाता है।

अब मै विद्वज्जनोसे प्रार्थनाके बतौर दो शब्द निवेदित करके इस नीरस भूमिका-को समाप्त करना चाहता हूँ। सबसे पहले मै जिस बातके लिये विद्वज्जनोसे क्षमा-

याचना करना चाहता हूँ वह यह है कि मेरी भूमिकामे मेरे अज्ञातमे अहम्मन्यताकी बहुतसी बाते आ जानेकी विशेष सम्भावना है। इसके कई कारण है, जिनमें शायद प्रमुख यह है कि इधर मुझे सर्वत्र अपनी लघुता नजर आ रही है और अपनी नगण्यताके बोधने मुझे बहुत अधिक वित्रस्त कर रखा है। अतएव इस Inferiority Complex की प्रतिक्रियाके फलस्वरूप मुझमे अनजानमें दाम्भिकताका भाव आ जाना कोई आश्चर्यकी बात नही है, यद्यपि मैने यथाशक्ति नम्रता प्रकाश करनेकी चेष्टा अन्त तक की है। मै आशा करता हूँ कि सुधी-समाज मेरी परिस्थितिका खयाल करके मुझे अवश्य क्षमा करेगा और जहाँ-कही मेरी कलमसे कोई अनुचित बात निकली हो उसके प्रति अवज्ञाका भाव प्रदर्शित करेगा। बहुत मुमकिन है, लोगोको मेरी कविताओके भाव कुछ अनोखे और बेतुकेसे लगे और वर्तमान हिन्दी कवितामे साधारणत. प्रचलित कविताओसे कुछ विचित्र जान पडे। तथापि मुझे पूरा विश्वास है कि हिन्दी-जगत्मे अब नये-नये भावोको अपनाने और बिना किसी Prejudice (विरोधी संस्कार)के साहित्यकी प्रत्येक सामग्रीके मूल तत्त्वकी यथार्थ परख करनेकी प्रवृत्ति तथा योग्यता नितप्रति बढती जा रही है। हो सकता है, मेरी कविताएँ नि सार हो और उनमे केवल शब्दजालकी चातुरी और अर्थहीन आडम्बर हो, तथापि मेरी यह विनीत प्रार्थना है कि रसिकजन उन्हे एक बार पूर्ण रूपसे तथा निष्पक्ष भावसे पढनेकी कृपा करें और कालिदासने अपनी सर्वप्रथम नाटक-रचनाके सम्बन्धमे जो निम्न श्लोक लिखा था उसे ध्यानमे रखनेका अनुग्रह करें :—

पुराणमित्येव न साधुसर्वम्
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥

सूची

इलाचन्द्र जोशी

महाविजनसे सजनी मेरी आयी—प्यारी विजन-कुमारी;
नग्न नयनमें नील गगनका अञ्जन
मेरे मनका मान कर रहा भञ्जन;
स्वर्ण-वर्ण-विहरणसे हृदय हरण कर
झिलमिल झलकाती है छवि क्या न्यारी?

❦

जगमग जोबन जगा रही है उसका—तारक-दीपावलियाँ;
फुहराकर उल्काओंकी फुलझड़ियाँ
प्यार जताती हैं उसको प्रिय परियाँ;
दलित कर रही हैं सुललित चरणोंसे—
कलित कुन्द-कुसुमोंकी कोमल-कलियाँ।

❦

चन्द्र-विभासित शुभ्र मेघ-शय्यापर—लहराती है बाला;
विधुर अधरके तरुण करुण कम्पनसे—
पल-पल पुलकित करती है चुम्बनसे;
चुन-चुन ओस-कणोंको तरलित वनमें
कब मुझको पहनावेगी वरमाला?

विजनवती

कहाँ गई वह कल-कल्लोलिनी
मुझको बतलायेगा कौन ?
मेरा मधुकर-पुन्ज-गुन्जरित
मन्जुल कुन्ज आज है मौन।

वह मद-कल विलोल विह्वलता,
वह विलासमय कल-उल्लास;
वह उद्वेल तरङ्गित रोदन,
वह प्रभात का कम्पित हास;

वह सरिता की ललित-कलित गति,
सागर का फेनिल कल्लोल;
उपवन की वह मृदु मादकता,
कानन का मर्मर-हिल्लोल;

मधु-आसव से गन्ध-विधुर वह
मलयानिल का मदिरोच्छ्वास,
उच्छल-फेनिल-जलधि-विलोड़ित
पुरवैयाँ का सजल उसास;

इन सब द्वन्द्वों का विलास अब
न कर सकेगा मुझको श्रान्त;
गहन विजन में बैठा हूँ मैं
एकाकी, विरही, विभ्रान्त।

कभी अकारण फूट फूटकर
रोती थी मेरी प्यारी,
कभी छोड़ती थी निर्जन में
हर्ष-उल्लसित किलकारी।

उमड़ उमड़ घन-अश्रु घुमड़ जब
आँखों को करते थे म्लान,
दमक दमक तब चपल दामिनी
उनको करती थी द्युतिमान।

हाय! यही पर्वत-निकुञ्ज था
उस कपोतिनी का अधिवास,
विकल-कलित-कूजन से उसके
वन लेता था सकरुण साँस।

जिस प्रशान्त शारद-सन्ध्या में
पाया मैंने पहली बार
मायाविनी विजन-बाला का
अविज्ञात वह पागल प्यार,

उस सन्ध्या की शान्त नीलिमा,
उस सन्ध्या का स्वर्णिम राग,
हाय! जगा देता है हिय में
चिर-अतीत स्मृति का अनुराग।

बैठी थी वह स्तब्ध विपिन में
एकाकी, चिन्तित अनजान,
किस चिर-परदेसी का मन में
करती हुई न जाने ध्यान!

उछल उछल पड़ता था उसके
अङ्ग-अङ्ग में नव-यौवन,
बिखरे पड़ते थे पीछे से
उसके कुञ्चित केश सघन।

झूम झूम पड़ती थीं आँखें,
पर उत्सुकता से थीं पूर्ण;
उसकी वह विह्वल उत्सुकता
करती थी मम हृदय विचूर्ण।

दूर कहीं से होता था तब
उत्थित कुररी का क्रन्दन,
कानन-मर्मर में होता था
ध्वनित विश्व का हृद्-स्पन्दन।

सान्ध्य-गगन को चूम चूम रवि
बिदा हुआ हो अस्तगमित,
उस चुम्बन के अरुण लाज से
करुण मेघ भी था रञ्जित।

चिन्तित कुञ्चित-सी बैठी थी
विस्मृति में निमग्न बाला,
लिये केतकी-कण्टक कर में
पहने मालतिका-माला।

किस अविदित विस्मित विषाद की
रेखा से था वह मुख श्रान्त?
पहुँचा उसके निकट मुग्ध मैं
त्रस्त, भीत, सम्भ्रम-सम्भ्रान्त।

मुझे देख वह चकित रह गई
उत्सुकता से आँखें खींच,
दो प्राणी हम मौन हो रहे
भीषण स्तब्ध विजन के बीच।

अकस्मात् आँखों से उसकी
टूट पड़ी अविरल जल-धार,
खड़ी हो गई, मुझको उसने
पहनाया फूलों का हार।

कण्टक-दल को उसने गूँथा
कुञ्चित अलक-जाल के साथ।
थाम लिया मैंने धीरे से
उसका कोमल कम्पित हाथ।

अपने शून्य सदन में लाया
कितने वन-पर्वत कर पार,
प्राणों से की उसकी पूजा,
जीवन-धन सब किया निसार।

स्पन्दित - तारक - रश्मि - विभासित
रहता था जो कुञ्ज-भवन,
उसे छोड़ वह स्तिमित दीप से
झिलमिल गृह में हुई मगन।

कुछ दिन तक क्रीड़ा-कौतुक-युत
चला हमारा हास-विलास,
उस कपोतिनी की आँखों में
कम्पित हुआ सुकान्त प्रभास।

त्रस्त, भीत, अति-चकित, अजित्
उस बाला का मन जीत लिया,
वह इस चिर-विषादमय गृह के
अधिवासी की बनी प्रिया।

❀ ❀ ❀

हाय ! अचानक पाया मैंने
उसके मन में परिवर्तन,
उसके भीतर चला अजानित
झटिका का घूर्णित नर्त्तन।

लगी छटपटाने पिञ्जर में
वह विहगी हो अन्यमना,
सजल जलद-सी हो गम्भीरा
छोड़ दिया उसने हँसना।

फिर विषाद की चिर-विभीषिका
हुई प्रकट ले उग्र स्वरूप,
घन-तमिस्र-पुञ्जित हो आया
फिर चिर-अन्धकारमय कूप।

उसको फिर से आकुल करने
लगी विजन की छवि-छाया,
तारक की कम्पित किरणों के
करुण-विकीरण की माया।

अपना चिर-अविवास छोड़ कर
बाहर चला उसे ले सङ्ग,
देखा कूलहीन सागर का
अति भीषण विस्तार उतङ्ग।

निविड़ निशा के गहन-तिमिर में
सागर का कल-रोदन-रोर,
सुनकर उन निर्मम प्राणों में
उमड़ी गद्‌गद-हर्ष-हिलोर।

विकल-पुलक से आकुल होकर
उमग पड़ा उसका आनन्द,
तरल तरङ्गों से तरलायित
हुआ हाय! मैं भी सक्रन्द।

सागर के ढिग विजन प्रान्त में
दोनों करने लगे निवास,
पर उत्सुक करती थी मुझको
निर्वापित दीपक की वास।

हाय! शून्य में लीन हुई थी
मेरे गृह-प्रदीप की जोत—
निश्चय ही करता होगा अब
वहाँ प्रकाश मूढ़ खद्योत!

❀ ❀ ❀

मम जीवन के नवल प्रात में
स्वप्न-तरङ्गिम रङ्ग अपार,
मुझे कराता था उमङ्ग से
निखिल निलय में विपुल विहार!

कभी महा-जीवन का मन में
उमगा पड़ता था वेदन,
कभी स्नेह की अति प्रशान्त छवि
हाय! जगाती थी चेतन।

कभी नहीं सोचा पर मैंने
होगा यह निर्जन-निर्वास—
मुझे करेगा मुग्ध विधुर उस
अथिरा का क्रन्दन-उल्लास।

विवश छोड़ना पड़ा मुझे मम
सुख-स्मृति-पूरित गृह-प्राङ्गन,
मुझको करने लगा थकित वह
सुकठिन-कोमल आलिङ्गन।

सञ्चित करने लगा हृदय मम
अम्बुधि का रोदन अज्ञात,
भरने लगा आह मानस में
उच्छल-ऊर्मि-विकम्पित वात।

वर्ष-वर्ष पर वर्ष बीतकर
युग पर युग भी बीत चला,
पर सागर का सुखद क्रोड़ वह
छोड़ न सकती थी चपला।

हुआ अन्त को लव-लव करके
सञ्चित सघन सपुञ्ज रुदन,
बहने लगा उच्छलित होकर
उसका उद्वेलित प्लावन।

वेला के फेनिल उसास से
फूला उसका वक्षस्थल,
आह व आँसू के प्रवेग से
हुए हाय! दोनों विह्वल।

गिरि-निकुञ्ज के निभृत नीड का
ध्यान उसे फिर हो आया,
फिर उन्मनी बनी वह बाला,
होने लगी क्लान्त-काया।

केसर-चम्पक, जुही-केतकी
आदि कुसुम-दल का सुचयन।
उसकी स्मृति में हुआ जागरित,
हुए सलिल से सिक्त नयन।

छोड़ पुलिन की सैकत-माया
पुनः चली पर्वत की ओर,
हुआ हाय! मैं भी अनुगामी
धर कर उसका अञ्चल-छोर।

फिर सुनने में आया उसका
पर्वत में कीलित कूजन,
पुनः कलोलित हुआ हर्ष से
पर्वत का निःस्पन्द विजन।

पर मेरा वह चिर-निर्वापित
दीपक बला न किसी प्रकार,
मेरे क्रन्दित अन्तस्तल में
मचा प्रलयकर हाहाकार।

करने लगी मुझे नित शोषित
अन्तहीन निर्जन की भीति,
छोड़ नहीं सकता था पर मैं
उस विमना बाला की प्रीति।

जीवन-गति मम निर्विचित्र थी
पर न गई मम उत्सुकता,
मेरे विद्रोही विषाद से
हाय! गई वह भी उकता।

दिन दिन मुक्तासम अनुपम द्युति
होने लगी म्लान, अति शीर्ण,
उसकी वह सम्लान कान्ति नित
करती थी मम हृदय विदीर्ण ।

सागर से सञ्चित वह क्रन्दन
दोनों का फिर उमड़ चला,
चिर-विच्छेद-भरी शङ्का से
मुझे जकड़ती थी अबला ।

अपनी दो कोमल बाँहों से
मुझको गले लगाती थी,
भावी की चिर-विरह-वेदना
हिय में हाय ! जगाती थी ।

धीरे धीरे पुष्पवास-सम
वह तो होने लगी विलीन,
व्याकुल उत्कण्ठा से मैं भी
दिन-दिन होने लगा मलीन ।

कुररी ने अपने क्रन्दन में
मिलित किया उसका रोदन,
वन-कपोत ने भी अपनाया
उसका वह मद-कल-कूजन ।

निर्झर के झर्झर प्रपात ने
सीख लिया उसका सङ्गीत,
वनस्थली भी लगी चुराने
उसका सुमधुर स्वप्न पुनीत ।

मधु-ऋतु ने भी छीना उसका
लीलामय लावण्य-विलास,
हा ! निदाघ भी छीन ले गया
उसका तेजोद्दीप्त प्रकाश।

पावस ने भी हर ली उसकी
अश्रु-विलोड़ित जल-माया,
शरत् लगा करने शोषित उन
आँखों की शान्तच्छाया।

हिम ऋतु ने अपनाया निर्मल,
शुभ्र, शीत नीहार-समान,
उसका निष्कलङ्क, अति उज्ज्वल
हीरक-सम चरित्र अम्लान।

भरी शिशिर ने निज वंशी में
उसकी सकरुण ठण्डी आह,
ऋतुओं की हिल्लोल-प्रगति में
उसकी गति का चला प्रवाह।

मेरे मानस की कल-हंसी
स्वच्छ सलिल कल-कंज बिसार,
भर उड़ान चल पड़ी लूटने
महाकाश का विपुल प्रसार।

वह अदृश्य हो गई अचानक
छोड गई अपना अवसाद,
भ्रान्त, चकित सा रहा ताकता
मै वन में होकर उन्माद।

अपनी इच्छा की बलि देकर
किया प्रकृतिमय अपना प्राण,
अलसित अकर्मण्य हो बैठा
उस पर्वत-वन में म्रियमाण।

तब से प्रकृति खिलाती है नित
मेरे मन में नव-नव रङ्ग,
करता हूँ मैं ग्रहण उन्हें अब
मौन-भाव से हो निःसङ्ग।

इच्छावर्त्त-रहित होकर जब
मानस बना शान्त-निर्मल,
रूप-रङ्ग प्रतिबिम्बित उसमें
होते हैं अकलुष, अविकल।

अप्रैल, १९२७

राजकुमार

वह था राजकुमार दुलारा, प्यारा,
छैल-छबीला, भोला था, अलबेला;
सारे जग से था वह क्योंकर न्यारा ?
निखिल विश्व में क्यों था हाय, अकेला ?

वह प्यारी प्यारी-सी चितवन बाँकी
मन को जैसे मोल लिए लेती थी;
उज्ज्वल मुख की अमल-धवल वह झाँकी
जी को कैसा आकुल कर देती थी!

उन विकसित नयनों की खरतर ज्योती
चीर डालती थी क्यों अन्तस्तल को?
उन्हें देख व्याकुल थी करुण कपोती,
लज्जा होती थी उत्फुल्ल कमल को।

मन्द मन्द वह धीर गमन मतवाला
बाल-केसरी को करता था लज्जित;
नव-किशोर-वय का वह ठाठ निराला
अंग-अंग में था उसके शुभ-सज्जित।

शुभ्र, शांत, हिम-महिम असीम विजन में
करता था वह वास, सदा-निर्वासी;
हिम की स्फटिक-शिला से रचित भवन में
एकाकी रहता था नित उल्लासी।

माया-भवन रचा वह मय-दानव ने,
इन्द्रजाल-सा था कैसा मन-मोहन!
वह शोभा देखी न कभी मानव ने,
विचक्रित हो जाते थे विस्मित लोचन।

हिमाधार पर हिम के स्तम्भ खड़े थे,
खण्ड-खण्ड था शुभ्र काँच सा निर्मल;
ठौर-ठौर नीहार-प्रदीप पड़े थे—
सूर्यकांत की प्रखर प्रभा से उज्ज्वल।

चन्द्रकांत-मणि की फुलझड़ियाँ शीतल
हिम के फ़ानूसों पर नित्य चमकतीं,
पुण्य-प्रकाश तुषार-शिखाएँ अविचल
स्तम्भों में निष्कंप, निवात झलकतीं।

हिम-स्फुलिंग-कणिकाओंका फ़ौवारा
शुभ्र फलकपर फुहराता था झर-झर;
यन्त्र-विनिर्गत, रजत-भास हिमधारा
लहराती उस माया-गृह के भीतर।

विपुल काल तक विमल तपन की माया
उसे निरन्तर करती थी आलोकित;
दीर्घ अवधि तक निखिल-तारका-छाया
स्निग्ध भास से करती उसको पुलकित।

दीर्घ समय में एक वार खिलती थी
ऊषा की लाली उस परी-भवन में;
एक वार झिलमिल-झिलमिल हिलती थी
कनक-झलक संध्या की उस दरपन में।

समय-समयपर ज्योत्स्ना लहर-लहरकर
हिम-महिमापर शांत छटा फैलाती;
उस मायाकी मूर्च्छा सिहर-सिहरकर
शुभ्र विजनको करके मगन सुलाती।

राजभूमिमें उस अखंड शोभाकी
राज-किशोर मगन-मनसे रहता था;
छटा विभासित करके आत्म-विभाकी
शुभ्र भासमें मन्द-मन्द बहता था।

उसे प्यार करती थीं हिमकी परियाँ,
नयनोंमें, पलकोंमें नित रखती थीं;
पहनाती थीं हिम-स्फुलिङ्गकी लड़ियाँ,
फुल्ल-कमल-आननका रस चखती थीं।

कोई रस लेती थी मधुर अधरका,
कोई नयनोंको करती थी चुम्बन;
माया-जाल बिछाकर निज आँचरका,
जकड़-जकड़ कोई करती आलिंगन।

लेकर करमें शुभ्र अभ्रका उबटन
कोई मल देती थी उसके तनमें;
स्निग्ध, नील, शुचि, शान्त गगनका अंजन,
अंकित करती उसके करुण नयनमें।

फुहराकर नित तारोंका फ़ौवारा
कोई उसको शीतल स्नान कराती;
तारोंके तरलित किरणोंकी धारा
उसे पुलक कंपनसे किलक कँपाती।

कोई उसको जंघामें बैठाकर
घन-कुंचित केशोंको देती सुहला,
इस मिससे मुख-स्पर्शनका सुख पाकर
अपना मन लेती थी किंचित् बहला।

सरस लाससे कोई मृदु मुसकाकर
भ्रुकुटि-धनुषपर लोचन-बाण चढ़ाती,
अपने ही हियकी तृष्णा उसकाकर
अपना ही मदनानल हाय, बढ़ाती!

उस कौमार-हृदयमें उस ज्वाला की
हलकी-सी भी आँच नहीं आती थी;
सारी माया उस तुषार-बालाकी
चूर-चूर हो बिखर-बिखर जाती थी।

निर्विकार, निर्लेप तुषार-भवन-सा,
रूप-रंगसे हीन कुमार-हृदय था;
सीरी-सीरी, शीत हिमाद्रि-पवन-सा—
वह किशोर हिम-प्रस्तर-सा निर्दय था।

नभ में कभी बिलमकर दीर्घ समयमें
उसे विकल करती ऊषाकी लीला;
कनक-हास बिम्बितकर कभी हृदय में
उत्सुक करती संध्या करुणाशीला।

लय हो जाती पर वह रंजित माया
विफल, क्षणिक अस्पष्ट स्वप्न-सी तत्क्षण;
पुनः विभासित होकर शांतच्छाया
विमल हृदयमें करती प्रतिपल विहरण।

एकरूप प्रतिबिम्बित था उस मनमें
प्रतिभासित थी हाय, एक ही ज्योती;
शून्य हृदयके उस निःस्पंद विजनमें
अलस शान्त थी झूम-झूमकर सोती।

कोई तृष्णा नहीं, न कोई आशा,
पूर्ण-कुंभ-सा राजकुमार मगन था;
स्थिरालोक था उन नयनोंमें भासा,
निखिल-शांतिमय निर्मल आत्म-गगन था।

धीरे-धीरे मधुर मोह यौवनका
अंग-अंगको लगा विवश अलसाने;
मधुर-स्वप्न उस तरुण-अरुण जीवनका
लगा करुण दृग-किरणोंमें सरसाने।

निर्विचित्र वह रूप तुषार-परीका,
शुभ्र-विजनका एक रंग शुभ-शोभित,
एक-भास निर्मल मानस-लहरीका—
देख-देख वह हुआ अरुचिसे क्षोभित।

शुभ्र हृदयमें छाया इन्द्रधनुषकी
रंजित होने लगी विविध वर्णोंमें;
सरस गीतमय झंकृत वाणी किसकी
लगी ढालने क्या रस उन कर्णोंमें।

दूर-दूर किस मायापुरकी लिप्सा
उस नीहार-हृदयको लगी गलाने?
किस चित्रा-मायाकी करुणा-भिक्षा
उसको व्याकुल करके लगी रुलाने?

मृगमदकी मृदु-सौरभ-रभसित श्वासा
हुई उच्छ्वसित किस आकुल मृग-वनसे?
मृगतृष्णाकी असह अनन्त पिपासा
वही वेगसे मदन-निपीड़ित मनसे।

हुआ हाय, वह शरत्-हंस सा चंचल
पंख सुकोमल लगे फड़कने फिर फिर;
तज तुषार-बालाओंका हिम-अंचल
हुआ रत्न-छायाके हित वह अस्थिर।

रोईं परियाँ, रोईं विलख-विलखकर
विरह-बावरी हुईं हाय, वे बरबस;
चिर-वियोगकी ज्वाला सुलग-सुलगकर
लगी गलाने जीवन, यौवन, सरबस।

हुआ श्वेत नीहार-भवन भी विगलित
तप्त आहसे उन विह्वल परियोंकी;
अन्तर्धान हुई शोभा वह सुललित
चन्द्रकांत मणि-खचित फूलझड़ियोंकी।

❀ ❀ ❀

चला पथिक वह अनमन, विकल, उदासी
मृगके सौरभका करके अनुधावन;
वाष्प-विकल आँखें वे उत्सुक, प्यासी
जीको लगती थीं कैसी मन-भावन!

जुगनू ज्योति जलाकर जगमग-जगमग
उसको पंथ सुझाते थे इंगितसे;
नक्तोषधिकी शिखा—पवनसे डगमग—
मग आलोकित करती किस रंगतसे!

गिरि उपत्यकाकी छायामें घन-घन
चलता था वह इठलाके, बल खाके;
कितने ही वन-पर्वत करके लंघन
पहुँचा वह सीमा-तटमें अलकाके।

मरकत-मंडित स्वर्णिम पर्वत-स्तनपर
सन्ध्याका स्वर्णांचल लोट रहा था;
मुक्ता-जलसे कंचन-पद सिंचनकर
गिरि-गह्वरसे निर्झर फूट रहा था।

बैठा जब वह सरिता-तटमें आकर
रभस विभासित हुआ कुंज-सौरभमें,
स्फटिक-सलिल-सिंचित सुवर्ण-सैकत पर
स्वर्णिम रेणु उड़ी नीलारुण नभमें।

हरित् मणिच्छाया-प्रभ सरित्-सलिलसे
हुई विमुक्ता मुक्तालोलित लहरी;
कनक-नाभि-मृग-सुरभित सन्ध्यानिलसे
सन्ध्याबाला पुलकित होकर सिहरी।

एक नवेली, अलबेली-सी बाला
चिकनी कनक-सिकतमें रपट रही थी;
पद्मरागकी प्रज्वल लोहित माला
मदनानल-सी हियमें लपट रही थी।

कभी छिपाकर सिकतामें मणि-मुक्ता,
उन्हें खोजकर बहलाती थी दिलको;
बीच-बीचमें इस क्रीड़ासे उकता
वह उछालने लगती स्फटिक-सलिलको।

मदसे बरबस विह्वल थी वह बौरी,
नव लालससे लोचन ललक रहे थे;
तप्त-स्वर्ण-सी उज्ज्वल थी वह गौरी,
श्रम-कण-मुक्ता मुखमें झलक रहे थे।

नदी-वीचि-सम भ्रू-विलाससे उसका
होता था मन्मथका मर्मच्छेदन;
किस मिससे उसका वसनांचल खिसका
सरितानिल करता था प्रेम-निवेदन ?

तनी हुई थी उसके तनकी तनिमा,
कल-उल्लसित विभा उसकी विलसित थी;
श्याम-कुंज-सम सघन दृगोंकी घनिमा
किस रससे सरसाकर मृदु-अलसित थी ?

मोर-पंख-सम केश-गुच्छकी वेणी
नागन-सी थी लहर-लहर लहराती;
स्फटिक लड़ी-सी निर्मल दंतश्रेणी
निर्झर-शीकर-सी झर-झर छहराती।

देखा उसने राजकुँवर परदेसी,
देखा उसका मोहन रूप निराला—
उत्सुक आँखें थीं वे विस्मित कैसी !
निखिल विश्वको करती थीं मतवाला।

शुभ्र कांति वह नव-नीहार-पतन-सी,
रूप हिमाद्रि-रजत-सा स्वच्छ, सुशीतल,
आँखोंकी वह छाया तुहिन-रतन-सी—
देख-देखकर हुई हाय, वह विह्वल।

अलकामें वह निरुपम रूप विमोहन
कभी किसीने कहीं नहीं था देखा;
विचकित थे बालाके दोनों लोचन,
खड़ी रही वह चित्र-लिखित-सी रेखा।

भूल गई वह मणि-गोपनकी क्रीड़ा,
भूल गई उच्छल जलकी कल-लीला;
मुखमें छाई अननुभूत नव-व्रीड़ा,
छाया आखोंमें विषाद क्या नीला !

चिर-विकसित उत्फुल्ल कलीके भीतर
प्रथम कीट घुस पड़ा मदन-वेदनका;
चिर-प्रसन्न माया-मानससे क्योंकर
उमडा प्रथम प्रवाह करुण क्रन्दनका !

चली कुँवरकी ओर विवश गज-गमनी,
मणि-नूपुर बजते थे रुनझुन-रुनझुन;
चली वेगसे उस कुमारकी धमनी—
वह झंकृत ललकार मदनकी सुन-सुन।

पहुँची उसके निकट विकल जब तरुणी—
गद्गद् बाष्पाकुल थे उसके लोचन;
मणि-रंजित अंचलसे कंचन-वरणी
अविरल करती थी क्यों अश्रु-विमोचन ?

उचक उचककर राजकुमार चकित था,
विकल-पुलकसे किलक-किलक था व्याकुल;
देख-देख उस छविकी छटा थकित था,
सरस-परस-लालससे था हर्षाकुल।

करुणा झलकाकर निज नयन-किरणमें
बोली बाला—"हे परदेसी प्यारे !
किन रंजित रत्नोंके अन्वेषणमें
फिरते हो तुम निशिदिन मारे-मारे ?

"किस तुषार-हीरककी माया तजकर
पद्मराग-मणिके हित हुए विमोहित ?
किस कंटक-वनमें नित उलझ-उलझकर
इस गिरिमें किस हेतु हुए आरोहित ?

"हाय प्रवासी ! क्यों हो तुम एकाकी ?
क्यों विषादसे म्लान तुम्हारा मुख है ?
तुमको चाह हुई है किस मदिराकी ?
विमल हृदयमें छिपा कहो क्या दुख है ?

"मैं भी हाय ! अकेली हूँ, अलवेली,
सूना मेरा रंजित रंग-महल है;
नहीं सखा है कोई, नहीं सहेली,
नहीं वहाँ किंचित् भी चहल-पहल है।

"नव-प्रभातमें वापीके तट जाकर
स्वर्ण कमलसे मैं क्रीड़ा करती हूँ;
नीलकान्त-निभ जलमें नहा-नहाकर
मरकतमय सोपानोंमें चढ़ती हूँ।

"संध्याको नित सुरभित सरित-पवनमें
विद्रुम-खचित बजाती हूँ मृदु वेणू।
विदलित करती हूँ नित विपुल पुलिनमें
मणि-गण-रणित चरणसे स्वर्णिम रेणू।

"स्तब्ध निशामें रत्न-प्रदीप जलाकर
मोर-पंखकी शय्यामें सोती हूँ;
दिनकी क्रीड़ा-जनित थकान भुलाकर
स्वप्न-जगत्‌में हँस-हँसकर रोती हूँ।

"विजन-वासका मुझको दुःख नहीं था,
कभी किसीकी चाह नहीं थी मनमें;
किसी व्यथाका परस न हाय, कहीं था,
नहीं विकलता किसी पुलककी तनमें।

"आज तुम्हें देखा क्यों नदी किनारे ?
कैसी व्याकुलता मेरे मन छाई !
मुझे रुलाया क्यों परदेसी प्यारे ?
कैसी आग हृदयमें यह सुलगाई ?

"आओ, प्यारे ! आओ, पीतम ! आओ,
निशिदिन मेरे हियमें करो बसेरा;
व्याकुल चितवनसे नित मुझे रुलाओ,
गलित करो मणि-कठिन हृदय यह मेरा ।

"ले जाकर मणि-रंजित रंग-महलमें
तुम्हें छिपाऊँगी पुलकित पलकोंसे,
फँसा-फँसाकर निज कोमल अंचलमें
बाँध-बाँध लूँगी आकुल अलकोंसे ।

"बहुरंगे स्वप्नोंकी मणिमय माला
पहनाऊँगी निर्मल वक्षस्थल पर;
पी-पी पिला-पिलाकर रंजित प्याला
भासित होऊँगी तव अन्तस्तल पर ।"

* * *

चला कुँवर उसके सँग स्वर्ण-सदनमें,
देखी मणि-आलोकित उसकी शोभा;
दीप्त छटा भासी उस रजत-बदनमें
इन्द्रधनुपकी छायासे मन-लोभा ।

वापीके तट रत्न-कुसुम-पुंजोंमें
गूँज रहे थे अलि कलियोंके भीतर;
इन्द्रनील-जल-सिंचित मणि कुंजोंमें
कूज रहे थे कल-कपोत, तर-तीतर ।

स्तम्भ-स्तम्भमें थे क्या रुचिर-विराजित
स्फटिक-विनिर्मित, स्वर्ण-विमंडित दर्पण !
उनपर निज प्रतिबिम्ब देखकर मोहित
बाला करती अपना यौवन अर्पण ।

कक्ष-कक्षमें सुन्दर सज्जित होकर
स्वर्णप्रभ विद्रुम-पर्यंक पड़े थे;
मोरोंके पर बिछे हुए थे उनपर,
स्थान-स्थानमें रंजित रत्न जड़े थे ।

स्वर्णसिंहके मुँहसे स्फटिक-फलकपर
विविध रत्नमय बूँदें छहर रही थीं;
उस अनुपम फ़वारेसे फुहर-फुहरकर
बहुरंजित धाराएँ लहर रही थीं ।

उस रत्नच्छायाकी माया अनुपम
राजकुँवरके मनको लगी रँगाने;
उल्का-सम अलकाका सस्मित विभ्रम
मगन हृदयको जगमग लगा जगाने ।

राजकुँवरका मन वह प्यारी तरुणी
भोली-भोली बातोंसे बहलाती;
फैलाकर अपनी माया मन-हरणी
विविध वर्णमय जलसे नित नहलाती ।

उजले मुखमें बिजली क्षणिक जलाकर
विभ्रम झलकाती अलकाकी ललना;
कभी कुँवरका कोमल हृदय गलाकर
छलछल छलकाती नयनोंमें छलना ।

रुनझुन-शिंजित, रंजित वलय बजाकर
कभी मोरको अथिरा थिरक नचाती;
अलस लाससे उसको लजा-लजाकर
राजकुँवरके मनमें रंग मचाती।

विगलित होकर हुआ हाय, वह पागल,
क्या विलास उन्मादक रँगा नयनमें !
चिर-यौवनका मुक्त प्रवाह अनर्गल
हिल्लोलित हो उमगा स्वपन, शयनमें।

बीच-बीचमें कभी जाग पड़ती थी
स्नेह-स्मृति वह निज किशोर-जीवनकी;
परियोंकी वह प्रीति विकल करती थी,
शुभ्रच्छाया शीत तुषार-भवनकी।

वह स्मित-छाया किन्तु उसे लगती थी
दूर-दूरकी विस्मृत स्मृति-सी निष्फल;
क्या तृष्णा अब उस मनमें जगती थी !
बरबस कर देती थी विह्वल, चंचल।

नन्दन-वनकी पवन मलय मद-दलनी
उसके मनमें हहर हहर हहराई;
विकल पिपासाकी क्या आशा छलनी
तप्त हृदयमें गहर-गहर गहराई !

मत्त मतंग-समान झूमकर सत्वर
मदस्रावसे बौराकर इतराया;
यौवनकी कलिकाका स्वर्णिम केसर
उसके मनोगगनमें था छितराया।

दोनों ही निर्द्वन्द्व, भविष्य-विमुख थे,
मदन-मत्त थे, नव-नव रंग-विलासी;
प्रतिपलका रस चखनेको उत्सुक थे,
नव-यौवन-ज्वर-विधुर, सदा-उल्लासी।

मग्नालस हो एक-अपरके सँगमें
करते थे आनन्द-रंग-रस-मुंजन;
वर्षों तक वे रमे रहे इस रँगमें,
बहुत दिनों तक चला सकूजन गुञ्जन।

❀ ❀ ❀

धीरे-धीरे एक कालिमा-छाया
लगी हाय, दोनोंके मुँहमें आने;
अवश हुई लालस-रस-विजड़ित काया,
कलुषित यौवन-कली लगी कुम्हलाने।

हृदय हुआ निर्जीव, विगत मदन-ज्वर,
स्तब्ध हुआ चंचल जीवन उच्छृङ्खल;
अथिर अधर मदहीन, श्रांत गीतस्वर,
ढका भस्मसे धूम्रहीन मदनानल।

विदलित कनक-कमल-दल हुआ कलंकित;
मरकत शैवल मलिन, स्फटिक-जल पंकिल;
किस भयसे मणि-भवन हुआ आतंकित ?
राजकुँवरका हृदय हुआ क्यों शंकिल ?

अलका-बालाकी मणि-रक्तिम माला
तप्तांगार-समान हुई प्रज्वालित,—
कीरित करने लगी नरककी ज्वाला,
लेलिहान रसनासे हुई विलोलित।

सौरभ-मय निःश्वास हुआ वह विषमय,
रोम-रोम जर्जरित हुआ स्पर्शनसे;
लुप्त हुआ नयनोंका सकरुण विस्मय,
दहल उठा दिल गलित रूप दर्शनसे।

हुई किरकिरी स्वर्ण-रेणुकी रंगत,—
तुच्छ धूलि-सी उड़ने लगी गगनमें;
कनक-शैलकी दीप्ति हुई अस्तंगत,
क्या फुफ्कार मची तटिनी-नागनमें।

जगी लालसा मनमें अब क्रन्दनकी,
राजकुँवर पर हाय, न रो सकता था।
सुदृढ़ पड़ी थी डोर विरस बंधनकी,
कारागार-समान जगत् लगता था।

नव किशोर-वयके कुसुमोंका दोना
उलट पड़ा था, छिन्न हुईं थीं लड़ियाँ;
नये सिरेसे चाहा हाय, पिरोना,
किन्तु नष्ट हो जाती थीं पंखड़ियाँ।

स्फटिक हर्म्यकी वह हिम-मंडित महिमा,
शांत-भास-मय तरलित ज्योति प्रभाती,
हिम-बालाकी परम प्रीतिमय प्रतिमा—
मनमें बिम्बित होते ही मिट जाती।

छटपट करता था मन उसका प्रतिपल
उसी तुषारालयमें लय होनेको,—
बहु-रंजित मायाका तजकर अंचल
शुभ्र-रूपके चरणोंमें रोनेको।

लगी लगन, तोड़ा सोनेका शृङ्खल,
मुक्त हुआ वह राजकुँवर बंधनसे;
हाय, उड़ा वह पक्षी होकर चंचल,
हुई स्फूर्ति संचारित हृत्-स्पंदनसे।

रोई बाला, रोई, व्याकुल रोई,
फूट-फूटकर खा पछाड़ वह बिलखी;
था न वहाँ मन समझानेको कोई,
लीन हुईं निर्जनमें आहें दिलकी।

चला कुँवर वह तजकर मणि-मायापुर
चिर-नूतन नीहार-प्रदेश-दिशाको;
भूल गया पर मार्ग, हुआ वह आतुर,
भटका दिनमें, रोया नित्य निशाको।

कभी गहन गह्वर-युत गिरके ऊपर,
कभी कंटकाकीर्ण विपिनमें जाता;
लुप्त हुआ चिर-परिचित पथ वह क्योंकर!
लाख स्मरण करनेपर याद न आता।

वज्र-शापकी जड़ता थी वह कैसी!
विवश हुआ क्यों कुँवर दुलारा, प्यारा?
व्याकुल करुणासे वह चिर-परदेसी
अब तक भटक रहा है मारा-मारा।

जुलाई, १९३१

तारा

आज मृत्युकी उत्सवमयी निशामें
मरने दो, मरने दो मुझको भाई !
इन्दु-किरण-करुणासे सकल दिशामें
देखो, कैसी पुलक-वेदना छाई !
नील गगनमें फैलाकर निज अँचरा,
गूँथ-गूँथकर तारक-चयका गजरा,
प्यारी मृत्यु बनी है कैसी रुचिरा !
उसकी छवि मम नयनों में अलसाई !

देवदारु-द्रुम के मर्मर-दोलन से
होता है यह किस देवीका वीजन ?
गिरि-निर्झरके झरझर सलिल-पतनसे
होता है किस पद-पल्लवका सिंचन ?
ज्योत्स्ना लहर रही है करुणाशीला
देख-देखकर किसकी लहरी-लीला ?
यहाँ करेगा छैला कौन सजीला
किसकी लाज-भरी गालोंको चुम्बन ?

झिल्लीगणने बजा-बजा सहनाई
मन मेरा कैसा व्याकुल कर डाला !
मृत्यु-प्रियाने आज मुझे पहनाई
यह कैसी आश्चर्यमयी जयमाला !
रजनीगन्धाकी सौरभमय कलियाँ
इस उत्सव में करती हैं रँग-रलियाँ;
सब मिलकर मेरी प्यारीकी अलियाँ
बना रही हैं क्यों मुझको मतवाला ?

नीचे गिरिके पादमूलमें सरिता
रोड़ों पर इठलाती है, बल खाती,
किस रससे आकुल होकर कल-कलिता
उन्मद है, उच्छृंखल है, मदमाती ?
दूर-दूरसे उसका कल-कल गुंजन
करता है कैसे मेरा मन रंजन !
उसके जलसे होकर आर्द्र प्रभंजन
शीतल करता है क्यों मेरी छाती ?

भ्रांति ! भ्रांति है ! घोर भ्रांतिकी माया !
यह उत्सव है या विलाप है विह्वल ?
घनीभूत है घन-विषादकी छाया,
पुंजित है सब ओर वेदना निश्चल ।
उमड़-उमड़ पड़ता है किसका क्रन्दन ?
पवन-वेगसे किसका वक्ष-स्पन्दन
प्रकट कर रहा है आकुल आवेदन ?
कौन हुआ है विरह-व्यथासे बेकल ?

रो-रोकर, खाकर पछाड़ बहती है
इस सरिताकी तरल-तरंगित धारा,
कल-कल स्वरसे कानोंमें कहती है—
"कहो कहाँ है आज तुम्हारी तारा ?
कहाँ छिपी है वह आँखोंकी तारा ?
कहाँ लय हुई तरल-अश्रु-कण-हारा ?
किधर बह चली सरल-लास-रस-धारा ?
कहाँ गई है आज तुम्हारी तारा ?"

तारे करके अविरल अश्रु-विसर्जन
पुण्य-स्मृतिमें अपनी प्रिया सखीकी
गगनांगनको करते हैं अभिसेचन;
आग बुझाते हैं वे अपने जीकी।
हा! तारा थी उनकी प्रिया सहेली,
करती थी नित उनके सँग अठखेली,
लोप हुई क्यों वह प्यारी अलबेली ?
क्यों त्रिभुवनकी ज्योति कर गई फीकी ?

कब तक मुझे रुलाओगी तुम प्यारी ?
कब तक हिय में काँटा गड़ा रहेगा ?
कहाँ गईं वे विकल उमंगें न्यारी ?
कब तक मुझको दुस्सह दाह दहेगा ?
कहाँ गई वह मृदु-मृदु पुलकित व्रीड़ा ?
वह किशोर-जीवनकी सुखमय क्रीड़ा ?
वे सब स्मृतियाँ उपजाती हैं पीड़ा;
कब तक मम नयनोंसे नीर बहेगा ?

मुझे बताओ हे मम जीवनदाता!
कहाँ छिपी वह मूरत भोली-भाली ?
चिर-परचित क्यों हुई आज अज्ञाता ?
नित्य-संगिनी कैसे हुई निराली ?
दो दिन पहले जिसकी गुंजित भाषा
उद्दीपित करती थी नित नव आशा,
आज जगाकर जगकी हृदय-पिपासा
शून्य कर गई वह जीवनकी प्याली!

प्यारी तारा ! भूल गई हो क्योंकर
उस दिनकी वह संध्या, शांत-सुरंजित ?
कुसुम-कुंजके नीचे आश्रय पाकर
तब तमिस्र होता था धीरे पुंजित;
अस्ताचलके स्वर्ण-रागकी सुषमा
तब विकीर्ण करती थी मधुर-मधुरिमा,
स्निग्ध-शांत थी सुन्दर संध्या-प्रतिमा,
साम-गानसे जग था मृदु-मृदु गुंजित।

चीड़-द्रुमोंकी सघन-राजिसे होकर
गद्‌गद्‌-स्वरसे निर्झर था कल-मुखरित,
शिलाघातसे मुक्ता-सम जल-शीकर
बिखर-बिखर पड़ते थे चूर्ण-विचूर्णित।
घूर्णित होती थी जल-धारा फेनिल,
झूम-झूम-सा पड़ता था संध्यानिल,
कूजन करते थे कपोत, कल-कोकिल;
कुररी-क्रन्दनसे वन था आक्रन्दित।

शिलाखण्ड पर तुम थीं स्तब्धासीना,
मैं भी सन्न खड़ा था एक किनारे;
अन्यमना-सी तुम थीं प्रकृति-विलीना,
उद्दीपित थे विस्मित नयन तुम्हारे।
सांध्य अभ्रके शुभ्र स्फुलिंग बिखरकर,
रँगकर धीरे रक्ताभासे नभपर—
छटा बढ़ाते थे संध्याकी सुन्दर;
सज्जित थे संध्याके भूषण सारे।

हुई प्रेरणा कैसी मुझे अचानक !
अकस्मात् क्या रूप तुम्हारा देखा !
हरण किये संध्याकी छवि मन-मोहक
शोभित थीं तुम अविकल-आकृति-लेखा ।
नयनोंमें थी नील-गगनकी छाया,
मुखमंडलमें स्वर्ण-रागकी माया,
शुभ सेंदुरमें रक्त-मेघ था भाया;
बिखरे बालोंमें श्यामल वन-रेखा ।

विहगवृन्द नीड़ोंमें पाकर आश्रय,
भजन गा रहे थे करके कल-कूजन,
स्खलित कुंज-कुसुमोंसे मृदु सौरभमय
होता था क्या देवि ! तुम्हारा पूजन ?
जल-प्रपातके स्फटिक-सलिलसे निर्मल
धौत हो रहे थे पद-कमल सुकोमल;
दिक्-दिगन्तमें व्याप्त चरण-रज परिमल
स्तब्ध प्रकृतिमें फूँक रहा था चेतन ।

संभ्रमसे विभ्रांत, भक्तिसे विह्वल
मै विमूढ-सा होकर चकित, विमोहित—
झुककर पढ़ने लगा तुम्हारे पद-तल,
लगा स्पर्श करने उनकी द्युति लोहित ।
मृदु-मृदु हास-सहित कर हस्त प्रसारण
परम प्रेमसे तुमने किया निवारण;
मेरा कंठ जकड़कर सजनि ! अकारण
पेलव-लतिका-सम तुम हुईं सुशोभित ।

धीरे-धीरे तिमिर गाढ़ हो आया,
पवन-वेगसे काँप उठे तरु-पल्लव;
सघन हो गई श्यामलताकी छाया,
विजन विपिनमें गूँज उठा हाहा-रव।
हुआ भीतिसे दृढ़तर तव आलिंगन,
लगा विकल करने मुझको वह बन्धन,
किया स्नेहसे तव ललाटको चुम्बन;
उमड़ा तब नयनोंसे अश्रु-उपप्लव।

करके अविरल करुणा-किरण विकीरण
स्पन्दित द्युतिसे हो-होकर पुलकाकुल
अश्रु-हाससे संध्याके तारक-गण
दोनोंको करते थे चिन्तित, व्याकुल।
मैं अनमन-सा था तारोंको गिनता,
हमें खींचती थी किस ओर विजनता ?
बिसर गई थी जग-जनकी सब चिन्ता,
बिसर गया था हमको भी मानव-कुल।

हास-छटा व्यंजित कर पूर्व-गगनमें
कृष्ण द्वितीयाका शशि हुआ विभासित,
रजत-शुभ्र ज्योत्स्नासे हुई विपिनमें
निर्झरकी फेनायित मदिरा रभसित।
कल्लोलाससे मार-मार किलकारी
कलित कंठसे कूक उठीं तुम प्यारी;
अश्रु-म्लान मुख की छवि करुणा तुम्हारी
पुनः हुई उस शशि-मंडल-सम विकसित।

अर्द्धरात्रि तक विकल-केलिका कल-कल
सुप्त प्रकृतिको करता रहा सचेतन,
हृदय-तरंगोंसे तब होकर चंचल
था अशांत वह नीरव शान्ति-निकेतन।
हिल्लोलित लीलासे पुलकित निर्जन
हिम-कणसे करता था अश्रु-विसर्जन,
भक्ति-सहित द्रुम करते थे पुष्पार्चन,
फहराया वन-वनमें तव जय केतन।

आज हर्षसे रोमांचित यह रजनी,
जगा रही है वे सब प्यारी स्मृतियाँ—
वह कैशोर-हृदयकी लीला सजनी!
पुलक-स्नेह-सिंचित वे दो-दो बतियाँ।
अन्त हो गया वह जीवन उच्छृंखल—
स्वर्ण-स्वप्नकी वह स्वर्णाभा पिंगल,
प्रिय प्रभात, संध्याएँ शांत, सुमंगल,
हुईं शून्यमें लीन प्रीतिकी रतियाँ।

नहीं तुम्हें भाती थीं कोई सखियाँ,
केवल मैं था तव प्रिय सखा प्रवासी;
उत्सुक रहती थीं वे छलछल अँखियाँ
मेरे ही दर्शनके हित नित प्यासी।
किन्तु नहीं स्वीकृत था तुमको बन्धन,
उत्सुक करता था तव वक्ष-स्पन्दन
निरुद्देश्य होकर उड़नेको वन-वन;
किस तृष्णासे था तव हृदय उदासी?

राज रही हो आज कहाँ स्वाधीना ?
ढूँढ़ूँ तुमको प्यारी, मैं किस वनमें ?
महाकाशमें क्या तुम हुईं विलीना ?
छिपी हुई हो अथवा मेरे मनमें ?
किस तारा-मंडलकी बनकर रानी,
ओढ़े हो तुम क्या अम्बर असमानी ?
किस तुषार-मय वनकी शुभ्र हिमानी
बिछी हुई है तव सुकुमार शयनमें ?

रहकर निशि-दिन सजनि ! तुम्हारे सँगमें,
पाकर प्रतिपल प्यारी, प्रेम तुम्हारा—
रँग न सका मैं तुमको अपने रँगमें
देकर भी अपना जीवन-धन सारा ।
तुमको कभी न कर पाया मैं अपना,
लगता है सब इन्द्रजाल-सा सपना,
वृथा हाय ! रोना है, व्यर्थ कलपना—
झूठा था वह प्यार, स्वप्न थी तारा ।

बिना पिलाये ही यौवनकी मदिरा
कहाँ उड़ चलीं तुम अस्पृश्य कुमारी ?
अन्तर्धान हुईं हिम-कण-सी अथिरा,
बिन सींचे मम तरुण हृदयकी क्यारी ।
आज भ्रष्ट है मेरा सारा यौवन,
तमसाच्छन्न हुआ है निष्फल जीवन,
व्यर्थ वसंत, वृथा मन-भावन सावन,
अर्थहीन है शरत्-निशा सुखकारी ।

नव-वसंतका देख मदालस-लालस
सजनि ! तुम्हारा जी न कभी ललचाया,
सौरभ-रभसित ललित गुलाबोंका रस
विगलित देख तुम्हारा जी मचलाया;
मृदुल मल्लिका, लावनमयी चमेली,
लज्जा-नमित लवंग-लता अलबेली—
हाय ! तुम्हारी रहीं न कभी सहेली,
मलयानिल था कभी न तुमको भाया।

तड़िल्लताकी चलच्चित्र-सम रेखा
तुम्हें कंटकित, पुलक-चकित करती थी,
होकर मंगल-वर्षा-जल-अभिषेका
काश-कुसुम-शोभा तव मन हरती थी;
शरत्-गगनकी शान्तच्छवि सुमनोहर
लगती थी तव नयनोंको अति प्रियकर,
हिम-गिरि प्रेरित सांध्य समीरण बहकर
तव थर-थर हियमें आहें भरती थी।

मेरी थीं तुम प्रिया, प्रकृति की जननी,
शुद्ध, शान्त थीं मूर्तिमती तुम करुणा;
चिर-संगीतमयी थीं सुमधुर-स्वननी,
दुःख-ज्वाल पीकर थीं तुम चिर-अरुणा;
उज्ज्वल होम-शिखा-सम परम पवित्रा,
हिम-स्फुलिंग-सी स्वच्छ, शीत, अति शुभ्रा,
ऊषा-सम सिंदूर-सुरक्तिम-अभ्रा,
संध्याकाश-समान विमुक्तावरणा।

भूलूँ कैसे ? नहीं मानता है मन,
निखिल विश्व लगता है यह सब सूना;
हाय! लगा है प्रतिपल उसका चिंतन,
बढ़ता है यह वेदन दिन-दिन दूना।
उल्का-सम आई थी वह इस जगमें,
सौरभ-सी क्यों लीन हो गई मगमें ?
समा गई है यद्यपि मम रग-रगमें,
पर अदृश्य है मुखड़ा सहज सलोना।

आज मृत्युकी मंगलमयी निशामें
चिर-कुमार मुझको मरने दो भाई।
पूत-प्रभंजन-स्पन्दित सकल दिशामें
पुजित पुण्य-प्रभा कैसी बिलसाई!
पुलक-प्रकंपित है कैसे यह धरणी!
लहरें लहर रही हैं जीवन-मरणी;
किधर बह चली मम उच्छृंखल तरणी ?
किस सागरमें इतराई, इठलाई ?

मेरे प्यारो! मेरी चिता सजाना
सरिताकी उस वेत्र-कुंज-छाया पर—
प्यारी तारा जहाँ सुना कल गाना
मुझे विकल करती थी आहें भर-भर;—
जहाँ बिछाकर हरी दूबकी शय्या
परम स्नेहसे डाल-डाल गलबैंया
बिलखाती थी कहकर—"भैया! भैया!"
मुझपर करती थी तन-प्राण निछावर।

रोओ कुररी ! रोओ तार-स्वर में,
जपो निरन्तर—"तारा, तारा, तारा !"
झिल्लीगण ! झनकार करो अन्तरमें—
"तारा, तारा, तारा, तारा, तारा !"
निर्झर ! छोड़ो आँसूका फ़ौवारा,
विजन ! तुम्हारा आज बजे इकतारा,
निकले उससे शब्द करुण यह प्यारा—
"तारा, तारा, तारा, तारा, तारा !"

अप्रैल, १९३१

महाश्वेता

मूर्त्तिमती शुचिता-सम हो तुम
कौन अप्सरा-बाला ?
बजा रही हो वीणा रुमझुम
पहने हो वनमाला ।
किस तापस की हो तुम तपती कन्या ?
मदनभस्म से रचित कौन हो धन्या ?
होमशिखा-सम उजली कौन अनन्या ?
किस वनदेवी ने तुमको है पाला ?
मूर्त्तिमती शुचिता-सम हो तुम
कौन अप्सरा-बाला ?

कठिन नियम-चारण से तेजित
हो निर्मम, निर्भीता,
शीतल तुहिन-कणों से मज्जित
वन में हो आनीता।
शान्त विजन में बैठी हो तुम विजना,
कुन्दशुभ्र तुम हो प्रसून-दल-व्यजना,
कलित केतकी-वन-सी कण्टक-मग्ना,
हिम-संघात-शिला-सम हो तुम शीता।
कठिन नियम-चारण से तेजित
हो निर्मम, निर्भीता।

अविरल - धारापात - सुमङ्गल—
वर्षाजल से स्नाता,
मुक्ता-सम उज्ज्वल अति निर्मल
तुम हो शरत्-प्रभाता।
तुहिन-सिक्त नव-कास समान पुनीता,
कुसुम-स्तबक-नत लता समान विनीता,
स्वच्छ, स्निग्ध हो सरस-विमल-नवनीता,
कम्पवती हो शीतल उत्तर-वाता।
अविरल - धारापात - सुमङ्गल—
लोचन-जल से स्नाता।

किस सन्ध्या का स्वप्न झिलमिला
आँखों में है झलका ?
किस प्रवेग से रहा तिलमिला
रोदन अन्तस्तल का ?
किस करुणा से व्याकुल है तव वीणा ?
सन्ध्या-छाया की माया में लीना
अस्तराग-सी होती छिन-छिन क्षीणा
कैसे तुम अलबेली आकुल-अलका ?
किस सन्ध्या का स्वप्न झिलमिला
आँखों में है झलका ?

बैठी हो शङ्कर-आलय में
रुद्रा कौन कराला ?
तुम हो रञ्जित भीम प्रलय में
ज्वालमुखी की ज्वाला ।
दीप्त हुताशन-सम अङ्गार उगलती,
वज्रपात से भीति-भावना दलती,
तुम चिताग्नि सम रङ्गिणि ! नित हो जलती,
राज रही हो लिए हाथ में भाला ।
बैठी हो शङ्कर-आलय में
कौन भैरवी-बाला ?

जून, १९२७

नृत्य

नाचो ! नाचो ! महाकाल ! तुम खर-मध्याह्न गगनमें,
सूर्योज्वल अंगनमें ।
होकर गर्वित अपने दीप्त विजयमें—
नाचो रुद्र समुद्र-तालमें, निखिल सृष्टिके लयमें ।
तुम तो नाच रहे हो प्यारे ! उन्मद रससे पागल—
उच्छल-यौवन-चञ्चल;
पर यह भोली-भाली प्यारी निपट नवेली ललना
सरल लासमय तरल दृगोंमें छलका निश्छल छलना
पर्वत-पथके विजन प्रांत में सुन कपोत-कुल-कूजन
मंद, हंस-गतिसे जाती है करने शिवका पूजन;
सरल, मधुर विश्वास भरा है तरुण, करुण नयनोंमें,
लज्जा-रक्तिम लास खिला है हस्तस्थित सुमनों में;
स्नेह-प्रेम-रस प्रतिपल उसके मधुमनमें सिंचित है,
निखिल चक्रकी वक्र-प्रगतिसे नहीं तनिक परिचित है;
ब्रह्म-सत्य-सम निश्चित समझे बैठी है निज यौवन,
परम-तत्त्व-सम नित्य समझती है निज पतिका जीवन;
मोहाच्छन्न हृदयको उसके मैं कैसे समझाऊँ ?
चिर-जीवन की तृष्णा उसकी कैसे हाय, बुझाऊँ !

नाचो ! नाचो ! अमानिशाके महाकाश-मंडलमें,
लयङ्करी लीला दिखला पल-पलमें ।
रुद्रकाल ! तुम करो विघूर्णित नर्तन ।
अन्ध सृष्टिके रंध्र-रंध्रमें जगे बंधहर चेतन ।

तुम तो नाच रहे हो प्यारे! वसन कराल पहन कर—
अगणित सूर्योंकी मालाकी ज्वाला नित्य वहन कर;
पर यह देखो, करुणा-विह्वल माता विकल शयनमें
घन-निद्रारत, परम दुलारे शिशुके कोमल तनमें
फेर-फेरकर हस्त पुलकप्रद, स्नेह-वेदना-व्याकुल—
रह-रह होती है अविजानित आशंकासे आकुल;
उसकी यह उद्दाम वेदना कैसे हाय, भुलाऊँ?
किस मायासे उसका शंकित, कंपित वक्ष सुलाऊँ?

नाचो! नाचो! भैरव!

निखिल नियमके रोम-रोममें मचे व्योममय ताण्डव!
गर्जित होओ सुदृढ़ वज्र-सम मेरे नग्न हृदयमें,
हँसो ठठाकर अट्टहाससे तुंग तुषारालयमें।
हिमखंडोंके भीम-पतनसे, वज्रमयी क्रीड़ासे
तुम होते विक्षोभित जीवन-मृत्युमयी पीड़ासे;
पर यह देखो, निखिल विश्वके मानव आर्त रुदनसे
किस निष्ठुरसे भिक्षा चाह रहे हैं शीर्ण वदनसे!
वज्रकोपसे, रुद्रशापसे जन्मावधि हैं पीड़ित,
कठिन नियमके पेषणसे हैं निशिदिन त्रस्त, विताड़ित;
नहीं शक्ति जीनेकी उनमें, नहीं चाह मरनेकी,
ज्ञानहीन पशु-सम चिन्ता है क्षुधा शांत करनेकी;
उनके दुर्बल, भीरु हृदयको कैसे सबल बनाऊँ?
मस्तक ऊँचा करनेका क्या जीवन-मंत्र सुनाऊँ?

नवम्बर, १९३१

सांध्य-विलाप

सोई है यह निर्मल नग्न गगन में
कैसी नील निराशा !
अस्ताचल में किसके गलित नयन में
झलकी विकल पिपासा ?

शांत, धीर यह चिर-गंभीर हिमाचल
करुण कांति से रंजित—
चिर-निर्वाणमुखी ज्वाला-सम पिंगल
है निःशब्द विराजित ।

अस्तगमित रवि के अंतिम चुंबन से
रक्त मेघ है लज्जित,
वन है पुंजित वेदन के स्तंभन से
घन - आतंक - निमज्जित ।

स्तब्ध शून्य को करके चकित, विकंपित
यह चंचल काकाली—
किस रहस्य-पट में करती है अंकित
रेखा काली - काली ?

सरपत की सर्पित छाया से होकर
निर्झर की खर - धारा
रोती है खा-खा पछाड़ पत्थर पर—
धवल - फेन - कण - हारा !

देवदारु के मर्मर से निःश्वासित
व्याकुल संध्या - ललना
भरती है क्या आहें शीत, सुवासित—
छलका दृग में छलना ?

हो हताश वह किस असफल आशा से
है विषाद में मग्ना ?
व्यंजित करती है थरथर भाषा से
हृदय विकंपित अपना !

हाय, सखी संध्या ! क्या गोपन वेदन
अपने नीलांचल में—
नित्य छिपाये रहती हो क्या क्रन्दन—
विह्वल अस्ताचल में ?

स्निग्ध, करुण, नीरव तव परिणत यौवन
है क्यों विगलित-लालस ?
किस अतीत स्मृति से उन्मन तव जीवन
है तंद्रित, निद्रालस ?

बिता दिया किस अरुण देव के सँग में
उन्मद यौवन अपना ?
झूम रहा है आज हाय, रग-रग में
वह अलसाया सपना !

निखिल शून्य के किस निर्जन अंगन में
था आवास तुम्हारा ?
महाकाल के किस शुभ, शांत लगन में
पाया प्रणयी प्यारा ?

आज हुआ लय चिर-निर्वाण-निलय में
वह अलबेला पागल,
स्तब्ध हुए किस वज्र-तुषारालय में
लोलित दृग वे चंचल ?

तव चिर अविजानित प्रेमिक के शव पर
हिम-गिरि-शिखर सगौरव
सजा-सजाकर शुभ्र, श्वेत हिम-प्रस्तर
हैं समाधि-सम नीरव।

करती हो तुम उस समाधि को रंजित
अपनी करुण विभा से,
क्षणिक झलक उठता है क्रंदन पुंजित
इंद्रधनुष - शोभा से।

उस समाधि के हिम-शीतल पदतल में
अश्रु-सिक्त तव लोचन
देवदारु-छाया के श्यामांचल में
करते हैं जल-सेचन।

सज्जित करके चिर-विश्रान्त विजन में
सखि, तव वैभव - शय्या
तुम्हें रमाती है किस अमित भजन में
मृत्यु—तुम्हारी मैया ?

अस्ताचल के गलितानल अंबर से
जलती है तव धूनी,
दीपित होती संध्या-तारक-कर से
कुटी तुम्हारी सूनी।

आदि-सृष्टि-धारा के पावन तट पर
तुम अलबेली जोगन
मौन ध्यान से निखिल विश्व का अंतर
करती हो अवलोकन।

मृत्युलोक के मंगलमय निर्जन में
स्थापित तव पुण्याश्रम
हाय, जगाता है क्यों मेरे मन में
निशिदिन विस्मित विभ्रम !

मै भी हूँ सखि, चिर-कुमार संन्यासी,
निखिल जगत् से न्यारा !
सूने मन में रहता हूँ निर्वासी,
किस जोगन का प्यारा !

इस निर्वासन से हूँ प्रतिपल जर्जर,
है असह्य यह ज्वाला;
मुझे बना लो अपना जीवन-सहचर—
हे तपस्विनी बाला !

मूर्च्छालस तप से पुनीत कानन में
नित्य विकल झूमूँगा,
रक्तराग - रंजित गोधूलि - लगन में
तव पद - रज चूमूँगा ।

धरकर सखि, तव धूसर, गैरिक आँचर
नित्य - नित्य रोऊँगा ।
नील जलद की भस्ममयी शय्या पर
उदासीन सोऊँगा ।

संध्या-तारक की कंपित किरणों में
अपना हिय खोलूँगा ।
नीरव वेदन कर अर्पण चरणों में
मैं न तनिक बोलूँगा ।

बद्ध वेदना का विस्फूर्जित गर्जन
उमड़ रहा है निष्फल,
मुक्त स्रोत से करने अश्रु - विसर्जन
हृदय हुआ है बेकल।

जाग-जाग पड़ती है फिर-फिर रह-रह
मन में वह छवि लोनी,
अब भी हाय, सताती है क्यों अहरह
मृगतृष्णा अनहोनी ?

कहाँ आज है स्वप्नवती वह प्यारी,
विजनवती अलबेली ?
किस हिम-सागर के तट में सुकुमारी
होगी विकल अकेली ?

इस निर्झर के तट, शर-वन के ढिग में
कितने ही दिन आकर
झलका करुणा कपोत-कांति निज दृग में
सुनती थी जल-मर्मर !

कल-कल जल की अविरल गति से विह्वल
उसके विस्मित लोचन
फेन-वाष्प से भर जाते थे छल-छल,
रोते बिना प्रयोजन।

कभी देखती श्रांत, क्लांत तव सुषमा
हिमगिरि में आलंबित,
देख-देखकर वह अनुपम हिम-महिमा
रहती संभ्रम-स्तंभित।

उसके नयनों में होती थी बिंबित
श्यामकांति तव शीतल,
द्विविध सांध्य-आभा से पुलक-प्रकंपित
हो जाता धरणीतल।

निभृत विजन में वह सुकुमार कुमारी
वन-कपोत-सी चंचल—
मधु-संध्या-सी लगती थी अति प्यारी,
शरत्-प्रात-सी उज्ज्वल।

करती थी नव-निर्मल शारद-नभ में
शुभ्र अभ्र से क्रीड़ा,
लहराती थी देवदारु - सौरभ में
उसकी मुकुलित व्रीड़ा।

हिम-जल-सिक्त सुनिर्मल अरुणोदय में
हँसती विभ्रम झलका,
सजनि, तुम्हारे चिर-वियोग-आलय में
रोती आकुल-अलका।

फुल्ल कमल-वन में होती थी रंजित
हासमयी वह शोभा,
तरलित तारक-चय में होती सज्जित
अश्रु-माल मन-लोभा।

लीन हुई क्या तारों के कंपन में
वह मन-मोहन माया?
पाती है क्या सुधा चंद्र-चुंबन में
वह रजनी की छाया?

अथवा कल-कमनीय नवल हिम-राशी
अमल-धवल हिमधर की
सोख गयी क्या माया तरल विभा-सी
उस चंचल निर्झर की ?

या स्वर्णाचल का वह पुण्य तपोवन,
प्रिय निर्वास तुम्हारा—
लगा उसे मन-भावन, हृदय-लुभावन ?
मातृ-क्रोड़-सम प्यारा ?

करती है क्या कभी तुम्हारे सँग में
क्लांत केलि, कल-कौतुक ?
अथवा मज्जित हैं विराग के रँग में
आँखें विस्मय-उत्सुक ?

मुझे छोड़कर एकाकी, निःसंगी
चिर-अनंत तक जग में
उड़ती है क्या वह निर्मुक्त विहंगी
महामृत्यु के मग में ?

कुंज-कुंज में छोड़ गयी क्या वेदन !
सलिल-पुंज में क्रंदन,
पर्वत-पर्वत में क्या व्याकुल चेतन !
वन में मर्मर-स्पंदन ।

श्वेत शीत की निशित, तीक्ष्ण धारा-सी,
अग्नि-समान अछूती—
विद्युत्-सी संदीप्त, तुषार-शिला-सी
थी वह पुण्य-विभूती ।

निखिल शून्य में किस तारक-मंडल के
खर - मध्याह्न - गगन में
हिम-पुंजित उसका कौमार्य पिघल के
लहरेगा यौवन में ?

अविज्ञात किस सुंदर, नूतन ग्रह में
लोनी-सी वह लतिका
पुनः खिलेगी मधु-सौरभ-संवह में,
लालस - रस - उन्मदिका ?

पुनः लसेगी क्या उसके नयनों में
नव-ग्रह की छवि उज्ज्वल ?—
नव-विहान के मोहन तुहिन-कनों में
शरत्-शांति अति निर्मल ?

वह निरखेगी नवाकाश की रजनी
शोभित नव - शशि - कर से ?
विहरोगी उसके दृग में तुम, सजनी,
नव हिम - शैल शिखर से ?

बैठेगी वह किस निर्भर के तट में ?
किन कुसुमों के वन में ?
किसके सँग में पाकर लाज प्रकट में
पुलकित होगी मन में ?

उस प्रपात का जल होगा ऐसा ही
फेनिल, स्वच्छ, सुशीतल ?
तरल, तीव्रगति, चंचल, अविरल-वाही ?
शिलाघात से उच्छल ?

उस ग्रह में होगा क्या ऋतु - परिवर्तन
इसी नियम के क्रम से ?
वर्षा, शरत्, वसंत करेंगे नर्तन
ऐसे ही विभ्रम से ?

अथवा केवल चिर - वसंत विहरेगा
ललित - लास - लावन से ?
या चिर - क्रंदन का प्रवेग फुहरेगा
मोह-अंध सावन से ?

या अनंत तक स्निग्ध शरत् की छाया
नभ में बिछी रहेगी ?
उसके नीलिम नयनों - सी वह माया
शोभा अमित लहेगी ?

अथवा चिर - दिन वहाँ तुषार-भवन में
हिम - बाला सोती है ?
उसकी नाईं चिर - कौमार - शयन में
हँस - हँसकर रोती है ?

उस ग्रह में लहराता है चिर - यौवन
सुख - आलस से तंद्रित ?
अथवा केवल एक अखंड तपोवन
है निशिदिन आक्रंदित ?

जीव वहाँ के हैं ऐसे ही व्याकुल—
कर्म - चक्र - विक्रीड़ित ?
मिट्टी है क्या हाय, वहाँ भी आकुल—
क्षुधा - तृषा से पीड़ित ?

अथवा उसके निखिल नभोमंडल में
चिदानंद है भासित ?
वृष्टिहीन, उद्देश्य-रहित बादल में
है पूर्णेंदु प्रकाशित ?

उस प्रपूर्ण अर्णव में मुक्तावरणा
द्विधाहीन तैरेगी ?
अपने ही रँग में विभोर, गत-करुणा
मुझे निपट बिसरेगी ?

कैसे पाऊँ इन प्रश्नों का उत्तर
मैं विमुग्ध अज्ञानी ?
कभी हटेगा इस रहस्य का पत्थर
बोलो, संध्यारानी ?

रोता हूँ मैं हाय, आज निर्जन में
भटक रहा हूँ पग - पग,
घन -तमिस्र है पुंजित हृदय - गगन में,
मुझे सुझाओ मारग ।

फरवरी, १९३२

सेविका

मेरे इस निर्जन-निकुञ्ज में
आओ, आओ परदेसी !
नये सिकोरे में शीतल जल
तुम पी जाओ परदेसी !

सरस, प्रफुल्ल कुसुम-स्तवकों को
आकर कर जाओ तुम घ्राण,
ओस व आँसू के जल-कण से
सींचा है इनको दे प्राण।

मृदुल, मनोहर इन सुमनों के
सुमधुर-मधु का ले लो स्वाद,
कोमल, रुचिर, सुपल्लव-युत हैं—
तोड़ो निर्दयता के साथ !

सरिता के इस निर्जन तट में
करती थी अज्ञात-निवास,
अब तक हाय ! किसी मानव का
पाया था न यहाँ आभास।

मधु-ऋतु में अलि-कोकिल मेरा
जी बहलाते थे सब भाँति,
शरत्काल में मम मानस में
क्रीड़ा करती थी बक-पाँति।

सरिता के कल-कलित सलिल से
करती थी किलोल मै प्रात,
विपुल पुलिन में दोलन करती
आकुल कुन्तल शीतल वात।

सन्ध्या को वेतस-निकुञ्ज में
लेती थी मैं ठण्डी साँस,
स्तब्ध, स्निग्ध, विश्रान्त शान्ति से
होता था मन विकल उदास।

रजनी में निज कुञ्ज-भवन में
बैठी नित तारे गिनती;
किस अजान स्वर्गीय देव से
करती थी मन में बिनती।

बकुल-माल का व्याकुल परिमल
करता था मुझको अलसित,
किस अविदित विलास से मेरा
मन हो जाता था उलसित!

अर्द्धरात्रि में लोरी गाकर
सीरी-सीरी सरित्-हिलोर
करती तन्द्रालसित निमीलित
मेरे लोलित-लोचन-कोर।

लोनी नवल कलित कलिका सी
खिली हुई थी मैं अज्ञात,
ऊषा-लालित ललित-लता सी
अरुण राग की थी सहजात।

सिक्त वेत सा फुल्ल-कास सा
रहता था नित मेरा मन,
सभी कुसुम-वन से प्यारा था
मुझे कण्टकित केतकि-वन।

चिन्ताहीन विकलता लेकर
अपने दिवस बिताती थी,
दुःख-रहित उत्सुकता मुझको
प्रतिपल हाय ! सताती थी।

मेरी इस स्थिति में तुम आये
कहो कहाँ से परदेसी ?
विजन प्रान्त में क्यों पथ भूले,
भूखे प्यासे परदेसी !

आये हो तो आओ, बैठो,
रहो अनाहत परदेसी !
निर्जन शून्य कुञ्ज में मेरे
स्वागत ! स्वागत ! परदेसी !

अञ्चल भर-भर सरस मृदुल फल
तुमको नित्य खिलाऊँगी,
अपने नये सिकोरे में जल
शीतल स्वच्छ पिलाऊँगी।

कर्दम-मलिन, नलिन-कोमल पद
दूँगी मैं प्रति साँझ पखार,
सेवा तव दिन-रात करूँगी
नित नित अपना रूप निखार।

अश्रुहीन मम करुण नयन की
कोमल आभा अति सुकुमार
तुम्हें रुलायेगी परदेसी !
मच जायेगा हाहाकार।

किस सागर के पार तुम्हारा
घर है प्यारे परदेसी !
किस दुखिया के आँसू लेकर
यहाँ पधारे परदेसी !

किस मोती की माया तज कर
हुए कुसुम के लिये विकल ?
किस सुवास से आकुल होकर
घर से बाहर चले निकल ?

आओ, मेरे पवन-प्रदोलित
इन कुसुमों को करो दलित,
फिर से हाय इन्हें सीचेंगे
अश्रु उषा-करुणा-विगलित ।

नये सिरे से हाय ! रचूँगी
यह अवलुण्ठित, भुञ्जित कुञ्ज,
फिर से मुखरित इसे करेगा
कोकिल-कुल कल-मधुकर-पुञ्ज ।

आओ, बैठो, थकित हुए हो,
पाँव पसारो परदेसी !
घर की तीखी करुणा बेकली
तनिक बिसारो परदेसी !

आओ, आओ, सब दुख भूलो
हो तन्द्रानत परदेसी !
मेरे निर्जन, शून्य कुञ्ज में
स्वागत ! स्वागत ! परदेसी !

जुलाई, १९२७

प्रथम वर्षा

दो दिन पहले था श्मशानका तप्त भस्म छितराया,
नागन-सी फुफ्कार रही थी ज्वाला;
किस प्रलयङ्कर लीला से था नभमण्डल इतराया!
प्रकृति बनी थी संहरिणी, विकराला।
आज हुआ मङ्गल-अभिसेचन सघन घटामय नभसे,
द्रवित हुई है किसकी अभिनव करुणा!
गिरि-उपत्यका है आमोदित नन्दन-वन-सौरभसे,
नव-विवाह उत्सवसे कुसुमाभरणा।
किस सञ्जीवन-रस-सिञ्चन-कृत सञ्चारित कम्पनसे
मुकुलित होकर पुलकित है यह धरणी;
भीनी-भीनी सरस सुरभिमय रभस-विभासित वनसे
हुई उच्छ्वसित आशा जीवन-मरणी।
प्रथम-यौवना वनस्थली है नव-वेदन-उत्कण्ठित
लिए हाय! निज कण्टककीर्ण प्रखरता;
क्षणिक दिखा यौवन फिर होती कुज्झटिका-अवगुण्ठित
नव-जल-कण से उसका रूप निखरता।
झरझर रव से मुखरित निर्झर किस अनन्त में जाकर
लय होने के लिये विकल विललाया!
शोष शोषकर हरण करेगा निठुर कौन रत्नाकर
मुक्ता-सम उसके जल-कण की माया?
चल-चल, विकल, विताल-विताड़ित उसकी गतिका यौवन,
फेनिल धारा कठिन शिला-सङ्घाता—

कम्पित करते हैं मम हिय में प्रतिपल पुलक-प्रलोभन,
अविरल रोदन क्या वेदन उसकाता !
नवल कुञ्जतल-वाही गद्गद् विह्वल पुञ्ज-सलिल से
उथल रही यह कैसी छल-छल भाषा !
महक उठी है जुही-सुवासित अलसित गन्धानिल से
किस के तप्त विरह की व्याकुल श्वासा !
मोर, पपीहा, झींगुर दादुर मिलित राग के स्वर से
गाते हैं सब ओर निराली लोरी;
झूम रही है निखिल प्रकृति मृदु-मंद मधुर किस ज्वर से,
तन्द्रिल-रस से होकर बरबस भोरी !
सिहर-सिहर कर कानन-मर्मर की थर-थर लहरी से
कहाँ बज रही किस रसिया की बंसी !
उड़ती है उत्सुक होकर मिलने किस तरुण परी से
सघन गगन में दलबल लेकर हंसी !
अविज्ञात उल्लास-विधुर हो प्रकृति बनी मदमाती,
पर बढ़ती जाती है मेरी चिन्ता;
किस असीम के पार मुझे मम कौन प्रिया तरसाती !
मैं अनन्त के पल हूँ प्रति दिन गिनता।
चिर-विरही मुझ परदेसी की कौन दुःखिनी नारी
मेरी आशा में बैठी है विमना ?
किस तीखी केतकी-कँटीली उत्कण्ठा से प्यारी
बाट जोहती होगी उत्सुक-नयना !
कितने युग से आशा करके होकर अकथित-थकिता
करती होगी वह निशि-दिन जल-मोचन,

अपनी स्मृति से भीता हरिणी-सी प्यारी अति चकिता—
सजल कर रही है मेरे भी लोचन।
मुझे ले चलो अपने सँग, हे उन्मद हंस-बलाका!
चिदानन्दमय हे मानस-पथ-गामी!
निरखूँ फिर से रूप विमोहन प्यारी हिम-बाला का
मैं अतीत सुख-स्वप्नों का अनुकामी।
वर्ष-वर्ष तुम वर्षा के उल्लास-जनित उत्सवसे
किस आशासे होकर पुलकित हर्षित
स्निग्ध स्नेहमय चिर प्रिय गृहकी ओर विकल कलरवसे
मत्त वेगसे होती हो आकर्षित!
करती रहती हो दर्शन नव वर्षामें प्रतिवत्सर
तुम उस चिर-अभिनूतन प्रियतम जग का,
भूल गया हूँ, पता नहीं पाता हूँ, पर मैं क्योंकर
चिर-परिचित उस माया-मानस-मगका?

जून, १९२७

शकुन्तला

आज तजेगी शकुन्तला यह प्यारा पुण्य-तपोवन
हाय, सदाके लिये! बहो, हे होम-पवन! चिर-पावन!
तप्तश्वास से। हे मृग-शावक! लगता है क्यों तीता
सुमधुर दर्भांकुर? किस भयसे हुई मृगी, तुम भीता?

सखी माधवीलता ! आज क्यों फुल्लश्री कुम्हलाई ?
अंग-अंगमें, कली-कलीमें क्या व्याकुलता छाई ?
करुणालससे विवश हुईं क्यों ? बिंधा हाय, क्या काँटा
चिर-प्रफुल्ल, नव-विकच हृदयमें ? छाया क्या सन्नाटा
अलि-गुंजित, कल-कलित कुंजमें ? सुरभि हुई क्यों फीकी ?—
मदसे रहित ? सखी,सूखी क्यों हियकी तरुण पिपासा ?
प्रथम प्रातमें ही यौवनके नष्ट हुई क्यों आशा ?
सखि, प्रियतमके प्रथम परसका हर्ष हुआ क्यों नीरस ?
स्नेहलता प्रिय शकुन्तलाके ललित करोंका लालस
प्रतिदिन तुमको विधुर पुलकसे करता था विकलाकुल;
प्रियतमके भी स्नेह-स्पर्शसे था वह कितना मंजुल !
हाय, हुआ दुर्लभ वह स्पर्शन संमोहन, संजीवन;
आज हृदय है म्लान तुम्हारा विफल हुआ है यौवन।
निशिदिन उसको चिन्ता थी सखि, तुम्हें ग्रथित करनेकी
नव-रसालके पुण्य-पाशमें,— अपना जी भरनेको
सफल स्नेहके स्निग्ध हर्षसे। आज त्यागकर माया
विस्मृति-रजनीमें लय होगी वह संध्याकी छाया।
रोओ सखि, नीरव-निकुंजमें हिम-जल-कण कर सिंचन;
तव यौवनका मिथ्या मद सब आज हुआ है भंजन।

सखी मालिनी, वहन करो वन-वनमें कल-कल क्रंदन,
खा पछाड़ पर्वत-प्रस्तरपर। आज काटकर बंधन
चली जायगी तुम्हें छोड़कर निठुरा बहन तुम्हारी,
कभी न लौटेगी भ्रमसे भी अब आश्रममें प्यारी।

निज पेलव पद-पल्लव जब वह रखती थी तब जलमें—
मृदु-मृदु सिहर-सिहरकर—सखि, तब आकुल अन्तस्तलमें
उछल-उछल उठता था पुलक रुदन। तज उसकी आशा
तुम अनंत तक वहन करो अब निज अतृप्त पिपासा।

सखि अनसूये! प्रियंवदे! घन अन्धकार क्यों छाया
आज चतुर्दिक्? किस क्षुधाग्निसे महाशून्य बौराया?
मृत्यु-दानवी नाच रही क्यों पृथ्वीकी छातीपर
अट्टहाससे? विश्व-नियम क्यों चूर्ण-विचूर्णित होकर
खंड खंड हो, बिखर-बिखर नभ-मंडलमें छितराया?
अणु-अणुमें, कण-कणमें कातर वेदन क्यों कतराया?
सखि प्रियंवदे! अर्थहीन है सरल, मधुर नव-जीवन
आज तुम्हारा; मृत्यु हुई है निर्विचित्र, निर्वेदन,
नीरस, निष्फल। हा अनसूये! वज्रशून्यकी दृढ़ता
जकड़े है वक्षस्थल आज तुम्हारा। कैसी जड़ता
आज तुम्हारे कोमल, सुललित, चिर-निष्कंटक मनमें
समा गई है! केवल प्यारी शकुन्तलाके सुखसे
तुम दोनों थीं सुखी सदा; उसके सुमधुर प्रिय मुखसे
सरस स्नेहकी, सरल लासकी सुन-सुन दो-दो बतियाँ,
चिर-प्रफुल्ल उल्लसित हृदयसे काट रही थीं रतियाँ।
निज विकसित यौवनकी तृष्णा सखियो! कहाँ छिपाई?—
अन्तस्तलके किस कोनेमें? कहाँ छिपी सुखदाई
नित-नवीन जीवनकी आशा? अपना निजका जीवन
किया मिलित उसके जीवनसे, करके आत्म-विसर्जन।

शकुन्तलाका हृदय-वेग था नस-नसमें संवाहित
सजनि, तुम्हारे अणु-अणुमें संचारित। हुई विवाहित
शकुन्तला;—तुम दोनोंके मन क्या उल्लास समाया!
मातृस्नेह या सखीभाव था?—वह थी कैसी माया?
आज चलेगी पति-गृहको वह, तुम दोनों हो बेकल;
भूल गई है सखियोंको, है निज पतिके हित पागल—
इस ईर्ष्याकी जलन तुम्हें क्या अति व्याकुल करती है?
हे सखियो! दुष्यन्त तुम्हारा निष्ठुर प्रतिस्पर्धी है
प्रेम-जगत्में। रोओ! बिलखो! अपना मस्तक पटको
भाग्यशिला पर; गहन शून्यमें छिन्न मेघ-सी भटको
चिर-अनन्त तक।

मात गौतमी, हृदय हुआ है विह्वल
किस दुर्दम आकुल करुणासे? आज हुआ है निष्फल
स्निग्ध, करुण तव मातृ-हृदय। अब विफल हुई सब आशा।
सूख गई है आज तुम्हारी चिर-सिञ्चित अभिलाषा।
जिस दिन तुमने देखा मुखड़ा सरल, सलोना, प्यारा,
प्रथम बार प्रिय शकुन्तलाका—स्तन्य-सुधा-रस-धारा
पुलकित स्तनसे उमड़ चली थी; हुईं देवि! हिल्लोलित
रोम-रोमसे पुलक-तरंगें; सुनकर कल-कल्लोलित
निर्झर-सी कल-मुखरित भोली-भोली, तुतली भाषा,—
देख-देख सस्मित विलास फुलझड़ियाँ-सा, ज्योत्स्ना-सा—
उमड़ा हर्षित रुदन। आज चिर रुद्ध हुआ वह क्रंदन,—
अन्तस्तलमें रह-रहकर करता है निष्फल गर्जन।

किस आशासे किया हाय, उस ललित लताको लालित
माता, तुमने सींच-सींच आत्माके रससे ? नित-नित
नव-प्रभातमें जगती थीं तुम होकर उत्सुक चंचल
किस प्रिय मुखके दर्शनके हित ? नित्य निशामें बेकल
सोती थीं तुम लेकर किसकी चिन्ता ? हा ! सोचा था
युग-युगान्त तक प्यारी हियमें खेलेगी। पोंछा था
नित्य नयन-जल इस आशामें। थी मृगतृष्णा मनमें—
लहरावेगी चिरदिन रानी हियके नील गगनमें
ज्योत्स्ना-रंजित शुभ्र मेघ-सी, प्रतिपल वह फुहरेगी
तरल-तरंगित धवल फेन-सी; निर्झर-सी छहरेगी
छर-छर हास-छटासे। माता, लीन हो गई पलमें
वह मरीचिका-माया। केवल सूने अन्तस्तलमें
भाँय-भाँय रव उपजाता है भय। शकुन्तला प्यारी
थी न किसीकी कभी; नहीं थी माता! कभी तुम्हारी।
अरुणोदयके विफल स्वप्न-सी आई थी वह जगमें,
लय होगी संध्या-माया-सी।

०

पिता कण्व! रग-रगमें
आज तुम्हारे कैसी तीखी निष्ठुर व्यथा समाई!
लोल जलधिकी क्षुब्ध वेदना गहर-गहर गहराई
चिर-प्रशांत मानसमें क्योंकर ? महाकालकी लीला
तव दृढ़ आत्माके यंत्रोंको करती है क्यों ढीला ?
सोचा था तुमने—जब होगी बिदा शकुन्तला रानी,
दृढ़तासे आत्माके रसमें डूबोगे तुम ज्ञानी,

मोह-जाल सब खंडित होगा, छिन्न स्नेहका बंधन,
फिर अखंड विश्रांति-भासमें लय होगा हृत्-स्पंदन।
आज बिदा होती है जब वह यह उच्छल, कल रोदन
विस्फूर्जित है किस कोनेसे ? हे ऋषिवर! है झूठा
जप-तप, ध्यान तुम्हारा अब। किस निठुर दैवने लूटा
चिर-पूजित मन-मंदिर हाय तुम्हारा! उसकी प्रतिमा
कौन लिए जाता है छीने ? गौरव-मंडित महिमा
आज नष्ट है उसकी। जिस अद्वैत शांतिकी ज्योती
भास रही थी हियमें, नित निःस्पंद भावसे सोती—
आज हुई जाती है लय; अब वृथा योग-साधन है।
हाय, तरुण तापसगण! कैसे चित्त आज अनमन है ?
जिस आनन्दमयी प्रतिमाका करके निशिदिन चिन्तन
निखिल सच्चिदानन्द रूपका करते थे तुम दर्शन,
तरुण, करुण छाया जिस मुखकी प्रतिपल थी मँडराती
मनोगगनमें तुम लोगोंके, निशिदिन थी लहराती
होमानलमें सरल मधुर यौवनकी तरल शिखा-सी
स्निग्ध ज्योति,—वह आज हुई जाती है चिर-निर्वासी!
अब किसके हित तापस-व्रत है ?

रोओ करुण कपोती!

देखो, यह आश्रमकी प्यारी शकुन्तला है रोती
मौन भावसे। निपट विकल है वह भोली, अलबेली,
जगतदुलारी, उसके आँसू ढरक-ढरक पड़ते हैं
हरी दूबमें मुक्ताकण-सम। करुणाकुल करते हैं

पशु-पक्षी, तरु-लता, सखी-जन, पिता, गौतमी माता
विकल स्नेहसे उसको। उससे सहा नहीं अब जाता
यह वियोग प्रियजनका। उसके दुख से दुःखित होकर
सिसक-सिसककर रोओ तुम नव-आम्र-कुंजके ऊपर।

देखो धरणीमाता! प्यारी शकुन्तला जाती है
पति-गृहको; यह देखो, कैसी विह्वल बिललाती है
परम लाड़िली, अलबेली आश्रमकी! उसके मगमें
अतिशय कोमल फूल बिछाओ, करके निज रग-रगमें
सरस स्नेह-रस-धारा सिंचित। कुश-कंटकसे प्यारी
नहीं रही अभ्यस्त कभी—त्रिभुवनकी परम दुलारी।
सन्ध्याबाला! देखो, आज तुम्हारी प्रिया सहेली
जाती है प्रियके मिलनेको। करती थी अठखेली
नित्य तुम्हारे सँगमें। आज हृदय उसका है चिन्तित,
किस शंकासे वक्षस्थल है तीव्र वेगसे कम्पित!
निखिल शून्यकी भीति आज उसका हिय जकड़ रही है,
घोर तामसी निशा अभीसे उसको पकड़ रही है
निष्ठुर, काले हाथोंसे। सखि, डाल-डाल गलबैंया
उसे रिझाना करके चुम्बन, बिछा स्वर्णकी शय्या
उसे सुलाना थपकी देकर स्निग्ध करोंसे अपने।
देखेगी तब स्निग्ध क्रोड़में जगमग-जगमग सपने
बाल्य-कालके। अभी-अभी तो थी वह निपट अयानी
सरल बालिका। खिली कली यौवनकी, फिर भी रानी
करती थी कुछ दिन पहले तक शैशवकी मृदु क्रीड़ा
अन्तस्तलके निभृत विजनमें। नव-यौवनकी व्रीड़ा

छू न गई थी उसको। हा दुष्यन्त ! कहाँसे आये
चिर-प्रशान्त आश्रममें ? अपने साथ कहाँसे लाये
नवोन्मत्त वैशाख मासकी प्रथम तामसी झटिका ?
निर्मल, पुण्य तपोवनमें फैलाई क्या कुज्झटिका
विकल मोहकी ? आग लगाई क्यों शीतल मृगवनमें ?
नष्ट-भ्रष्ट है आज तपोवन; छिन्न-भिन्न जीवनमें
आश्रमवासी भटक रहे हैं; शकुन्तला है खिन्ना;
प्रेम-प्रपंची पतिकी स्मृतिसे है व्याकुल, उद्विग्ना।

दो दिनमें ही भूल गये क्यों, हे स्वारथ-रत राजन् ?
हाय, सुकोमल ललित कलीमें करते थे अलि गुंजन,
तितली पंख बिछाकर उसपर करती थी नित छाया,
पुलकित करती थी प्रभातके प्रथम किरणकी माया
उसकी विकसित पंखड़ियोंको; हिम-कण करते मोचन
उसकी आर्त पिपासा, करके सरस सुधा-रस-सिंचन।
छिन्न कर दिया निष्ठुर करसे क्योंकर, झूठे प्रेमिक,
उस कोमल कलिकाको ? हाय, बिखरकर आज चतुर्दिक्
तुच्छ धूलिमें म्लान पड़ी हैं उसकी सब पंखड़ियाँ !

निशादेवि ! तुम उसके मगमें उल्काकी फुलझड़ियाँ
जला-जलाकर पंथ सुझाना; तारोंकी दीपाली
सजा-सजाकर नभ-वितानमें, अपनी झलक निराली
दिखा-दिखाकर उसे रिझाना। घोर गहन अँधियारी
उसे निगलना चाह रही है, व्याकुल है वह प्यारी।
मृत्यु ! दिखाओ उसको अपना रूप भुवन-मन मोहन—
सांध्य-अभ्र-मय अपने रंजित पंखोंका आलोड़न।

संध्याके तारकसे टलमल, विह्वल विकल गगनमें
नील जलद-अंकित अंजनसे शकुन्तलाके मनमें
वास करो सखि ! झींगुर-नूपुर-झंकृत व्याकुल महिमा
उसे सुनाओ । तजकर अपने दृप्त गर्वकी गरिमा,
उसके हियकी भीति मिटाओ; कर करुणा सञ्चारण
स्नेह-स्पर्शसे करलो उसको वक्षस्थलमें धारण ।

सखि शकुन्तले ! शंकित मनसे चलती हो क्यों धीरे ?
म्लान हुए क्यों आज तुम्हारे मानस-खनिके हीरे ?
अपने मनके गहन विपिनमें क्यों तुम भटक रही हो ?
किस द्विविधासे निखिल शून्यमें, प्यारी, लटक रही हो ?
आत्म-मानकी महिमा करके तुच्छ धूलिमें लुंठित
आज चली हो उन्मन-सी तुम हो पग-पगमें कुंठित
वंचक पतिके मिलनेको । हे निखिल विश्वकी रानी !
सारे जगको अपनाकर तुम क्योंकर हुईं विरानी
हृदयहीन प्रेमिकके कारण ? त्यागो उसकी माया,
सबल करो मन, स्वस्थ करो अब श्रांत-क्लांत निज काया ।
तनिक करो विश्राम सजनि, इस सघन-कुंज-छायापर,
क्षणिक विसारो चिन्ता सुनकर मृदु-मृदु पल्लव-मर्मर ।
स्मरण करो सखि, बाल्य-कालकी मधु-स्मृतियाँ सुखदाई ।

❀ ❀ ❀

आज तुम्हारे निकट हाय, क्यों मुझे वहा ले आई
महाकालकी उलटी धारा ? प्यारी, आओ, आओ !
शान्त, मगन-मन होकर मम नयनोंसे नयन लडाओ ।

देखो, आया हूँ परदेसी, व्याकुल-हृदय, पिपासी,—
कर्मज्वर-जर्जरित हृदयसे चरम - मुक्ति - अभिलाषी।
दोनों खिन्न-हृदय हैं प्यारी, दोनों हैं चिन्ताकुल।
सृजन करेगा आज विजनका पुंज-गुंजरण मंजुल
नव-नव रंग, नयी आशाएँ हम दोनोंके मनमें;
क्या उन्मादक गान बजेगा आकुल हृत्-कम्पनमें,
किस विताल-वाहित निर्भरके स्वरमें!

देखो प्यारी,

लाया हूँ किस युगका स्फूर्जन, कंप-वेदना न्यारी!
किस हिल्लोलित लीलाका क्या कल-कल्लोलित ताड़न
उद्वेलित है मम नयनोंमें! किस युगका आलोड़न
किस विज्ञानमयी लहरीसे नग्न नृत्य करता है
विकल रक्तधारामें मेरी! देखो, यह भरता है
लास-रंग-मय लीलाका बहुरंगी पागल निर्भर
मेरे मनमें—कल-विह्वल विक्षिप्त वेगसे प्रज्वर।
विंश शताब्दीके दोलनसे क्षुब्ध प्रपीड़ित होकर,
नाना ज्ञान विविध भावोंका तीव्र प्रवेदन लेकर—
आया हूँ सखि, मैं जय करने शांत, करुण तव मनको।
भूलो अब दुष्यन्त राजको, भूलो हाय मदनको!

हे विदेशिनी ललना! देखो कैसा नशा रंगा है
मेरी आँखोंमें! अति प्रज्वल क्या वेदन सुलगा है
मेरे गोरे-उजले मुखमें! उसे देखकर पलमें
राज-विरहसे व्यथित तुम्हारे कोमल अन्तस्तलमें

लहर उठी हैं देखो, कैसी विकल अपूर्व उमंगें !
उछल पड़ी हैं आँखोंमें हिल्लोलित तरल तरंगें।
आओ, प्यारी, आओ, मुझको अपने गले लगाओ;
निखिल विश्वका अन्तर्क्रन्दन हियमें आज जगाओ।
कहाँ प्रिये ! दुष्यन्त-व्यथा अब ? कहाँ मदनकी ज्वाला ?
निखिलानन्दपूर्ण आत्माका खेल अपूर्व, निराला
खेलेंगे सखि, चलो, आज हम सीमाहीन गगनमें।
उड़े चलेंगे महाशून्यके अतिविस्तृत अंगनमें,
संध्याका बहुरंजित पंख पकड़कर। सखि, भूलोगी
निर्मम निर्यातन निमेषमें; नित्य-नित्य झूलोगी
विश्व-प्रकृतिके राग-रंगमय दोलनमें तुम रानी।
भूलूँगा आत्माभिमानका पीड़न मैं अभिमानी।
होगा विस्मृत राजनीति, विज्ञान, ज्ञानका घर्षण—
लोलुप, सभ्य, स्वार्थ-लीलाका निष्ठुर भैरव हर्षण।
बह जावेंगे दोनों ज्योत्स्नाकी लहरोंके सँगमें,
रँग जावेंगे संध्याके सुमनोहर स्वर्णिम रँगमें।
दूर-दूर तारोंके हीरक-खचित रत्न-आसनपर
हो निर्द्वंद्वासीन सुनेंगे निखिल चक्रका मर्मर।
उस उच्चासनसे देखेंगे जीवन-मरणी लीला,
घृणित कीट-सम मानव-गणकी पंक-निमज्जन-क्रीड़ा।
युग-युगमें देखेंगे हम उत्थान-पतन देशोंका,
देखेंगे दोलन-संघूर्णन दलितोंके क्लेशोंका;
दास-वृत्ति पतितोंकी; उन्मद, तुच्छ गर्व जेताका;
पशुओंकी पर-बुद्धि; घृणित, उद्धत स्वभाव नेताका—

देख-देखकर प्रिये ! हँसेंगे मंद-मधुर गौरवसे
हम दोनों उस उच्च लोकसे। पंक-मथित रौरवसे
नीचे हमपर हुंकारेंगे लक्ष्य-भ्रष्ट मानवगण।
उन्नत, निर्दय, कठिन हृदयसे हो उत्फुल्ल अकारण
बीच-बीचमें रुद्र नृत्यसे हम दोनों बिलसेंगे
विश्व-मंचपर; निर्विकार, निष्कलुष नित्य हुलसेंगे।

हम दोनों सम्मिलित हुए हैं आज बहुत जन्मोंसे,
प्रिये ! आज निर्मुक्त हुए हैं चक्र-जड़ित कर्मोंसे।
लहरावेगी आज हृदयकी गति कैसी मनमानी !
मैं बिलसूँगा राजा होकर, तुम मेरी प्रिय रानी
शोभित होओगी मेरे सँग,—निखिल जगत्की वंद्या—
स्वच्छ, शुभ्र, चिर-मेघ-विमुक्ता, शरत्-कालकी संध्या।
कभी न तुम दुष्यन्त-प्रिया थीं—स्वप्नमयी चिर-कविता—
कालिदासकी मानस-कन्या, मेरी प्यारी ललिता—
हृदय-राज्यकी महिमा-मंडित रानी ! आओ, आओ !
अंग-अंगमें प्रिये ! ललित लावण्य-लास सरसाओ !
क्षुद्र स्नेह-दौर्बल्य त्यागकर पुण्य-प्रकाश-विभामें
विहरेंगे सखि, आज; विश्वकी अखिलानन्द-सभामें
आज बिराजेंगे हम। मेरी विश्व-व्यापिनी तारा
दोनोंके हृदयोंमें सुमधुर सरस सुधा-रस-धारा
बरसावेगी अविरल। आओ, आओ ! प्यारी, आओ !
मेरे मनमें चिदानन्दकी विमलाभा झलकाओ।

मायावती

मैं रोती हूँ, मैं निशिदिन पलछिन रोती,
मेरी आँखों से बिखरे पड़ते मोती।
मेरे आँसू हैं पद्मपत्र में कम्पित,
कानन है मेरे अश्रु-ओस से सिञ्चित,
मम क्रन्दन से तारे हैं नभ में पुञ्जित,
मैं नयन-नीर से निखिल प्रकृति को धोती।
मैं तरल अश्रु से निशिदिन अविरल रोती॥

मुझको पावस की घन-घन-घटा रुलाती,
वह सजल उसास कहाँ से है नित लाती ?
व्याकुल करती है नित मुझको घन-धारा,
रोती हूँ देख नदी का यौवन न्यारा,
उमड़ा पड़ता है आँसू का फव्वारा,
अविदित विषाद से भर जाती है छाती।
मुझको पावस की घन-घन-घटा रुलाती॥

मैं देख शरत् की शान्त नीलिमा रोती,
मैं देख विजन की छवि नित आकुल होती।
करती है मुझको विकल बाँसुरी क्रन्दित;
सन्ध्या मानस में करती आह तरङ्गित;
मैं विह्वल वीणा-सी हो करुणा-झंकृत,
नित-नित नूतन सुमनों में अश्रु संजोती।
मैं देख शरत् की शान्त नीलिमा रोती॥

मैं हँसती हूँ, मैं नित पगली सी हँसती,
मेरे मुख से फूलों की झड़ी बरसती।
पुलकित प्रभात सी रहती हूँ नित विधुरा
उत्फुल्ल कुसुम सी रहती हूँ मधु-मधुरा,
नव-अरुण-राग सी हूँ मैं मादक-अधरा;
मम हास देख हिम-बाला नित्य तरसती।
मैं हँसती हूँ—मैं नित पगली-सी हँसती॥

हूँ शरच्चन्द्र सी उजियाली मैं बाला,
हँसकर नित करती हूँ त्रिभुवन उजियाला।
द्युति-दीप्त दामिनी से मम हास दमकता,
अति प्रखर सूर्यकर से यह नित्य चमकता,
इसमें झलझल सन्ध्या का स्वर्ण झलकता,
अरुणोदय ने भी इसमें है रँग डाला।
हूँ शरच्चन्द्र सी उजियाली मैं बाला॥

मैं रोती हूँ, हँसती हूँ, हो मतवाली,
है सजल नयन में छाई कान्ति निराली।
निर्झर-शीकर में मम क्रन्दन फुहराता,
रवि-किरणों में मम हास सदा लहराता;
सन्ध्या-सागर में अश्रुवेग गहराता,
ऊषा में सजती हास-कुसुम की डाली।
मैं रोती हूँ, हँसती हूँ, हो मतवाली॥

मैं हूँ गम्भीरा, हूँ रसवती नवेली,
मैं हूँ कुहेलिका-सम अति कुटिल पहेली;
मैं विजन-वास में रहती हूँ अति रुदिता,
मैं रागरङ्ग से हो जाती हूँ मुदिता,
हूँ सन्ध्या-सम निलया प्रभात-मम उदिता,
रजनी की सजनी, सविता की अलबेली।
मैं हूँ गम्भीरा, हूँ रसवती नवेली ॥

मैं महामहिम हूँ भुवनमोहिनी माया,
निज अश्रु-हास से निखिल जगत् बिरमाया;
है इन्द्रधनुष मेरी माया से अङ्कित,—
मम नयन-बाष्प से होकर नभ में व्यञ्जित
मम तरल हास से होता है वह रञ्जित;
है धूप हँसाती मुझे, रुलाती छाया।
मैं महामहिम हूँ भुवनमोहिनी माया।

जून, १९२७

मृत्यु-मिलन

आज अमाकी रजनी
है निर्मल, अकलङ्कित,
मम चिर-प्रिय यह सजनी
है प्रसन्न, निःशङ्कित।

अर्द्धरात्रि आगत है,
निद्रा नहीं नयन में;
नीरव निखिल जगत् है
पुलकित अलस-शयनमें।

विश्वगीत - स्तम्भनमें
स्थिर है गौरव-गरिमा,
छायी गगनाङ्गनमें
अलख-निरञ्जन-महिमा।

नीचे मैं भूतलमें
नरकानल हूँ सहता,
ऊपर गहन अतलमें
पुण्य मरण-जल बहता।

आज तनिक तुम बोलो—
मृत्युदेवि! मम रानी!
निज घूँघट-पट खोलो—
निबिड़ कृष्ण, असमानी।

झलकाकर अम्बरमें
मुक्तामय अवगुण्ठन
किया हाय, क्षणभरमें
त्रिभुवन-जन-मन लुण्ठन!

आज हृदय है पागल,
टूट पड़ा है बन्धन;
होकर मुक्त, अनर्गल
उमड़ पड़ा है क्रन्दन।

मर्म हुआ है खण्डित—
व्यग्र - वेदना चञ्चल,
मन है सखि, उत्कण्ठित
धरने को तव अञ्चल।

आज हुआ हूँ बेकल,
मुझे तनिक रोने दो!
शीत गात निज कोमल
छूने दो! छूने दो!

विरह विलय हो जावे
इस अभिसार-निशा में,
मिलन-पुलक अब छावे
सकल दिशा-विदिशा में।

सुमधुर विधुर अधरमें
लहरावे मृदु कम्पन,
थरथर-विकलित स्वरमें
झङ्कृत होवे चुम्बन।

अङ्ग अङ्गमें लय हो;
दृग सुनिमीलित दृगमें,
हृद्में लीन हृदय हो,
काल स्तब्ध हो दिगमें।

प्यारी, आज मिला है
मुझे निकटतम दर्शन;
हर्षण-सहित खिला है
पुलक-प्रकम्पित स्पर्शन।

युग-युग-सिञ्चित आशा
हुई प्रफुल्ल, सपल्लव;
चिर-क्रन्दित मम भाषा
मन्त्र-मुग्ध है—नीरव।

कितने ही दिन देखा
रूप तुम्हारा मोहन,—
सकरुण सन्ध्या-रेखा,
बालारुण शुभ-शोभन।

पूर्णिम निशिमें अमलिन
अनुपम छवि झलकाकर
आयी हो कितने दिन
इठलाकर बल खाकर।

कितने दिन हो विम्बित
खर मध्याह्न गगनमें—
किया मुझे सखि, स्तम्भित
उज्ज्वल प्रलय-लगनमें।

किन्तु आज यह न्यारी
देखी कैसी माया!
मम व्याकुल हिय, प्यारी,
उच्छृङ्खल बिललाया।

पहन अग्निमय माला
प्रज्ज्वलतम तपनोंकी
लायी हो तुम बाला
फुलझड़ियाँ सपनोंकी।

नयनोंमें झलकाया
यह क्या विश्व अनोखा !
मायाजाल बिछाया
अविजानित भुवनोंका ।

मुझको ले जाओगी
किन रहस्य-कुञ्जोंमें ?
छलना छलकाओगी
किन तारक-पुञ्जोंमें ?

तव निस्तब्ध निलयमें
निर्निमेष नीरवता—
मेरे सन्न हृदयमें
छा देगी क्या कविता ?

पाप—ताप—ज्वालासे
करके मुक्त, विवर्नित
दिव्य अमल माला से
मुझे करोगी अर्चित ।

होगा लीन अतलमें
पङ्क-गलित रौरव-तल,
अनुभव होगा पलमें
पुण्य परश तव शीतल !

चिदानन्दकी माया
मुझे करेगी आकुल,
निखिल शान्तिकी छाया
भासित होगी मञ्जुल ।

आज विदा होता हूँ
हे प्यारे मानवगण !
अस्थिर हो रोता हूँ
हर्ष-शोकके कारण ।

मधु-स्मृतियोंकी झाँकी
करती मुझको उन्मद;—
करुणाभा ऊषाकी,
सन्ध्याकी छवि गद्‌गद ।

तुहिन-सिक्त धरणीका
अश्रु-गलित मुख उज्ज्वल—
स्नेह जता जननीका
कर देता है विह्वल ।

विदा धरित्री माता !
अबका अन्त-मिलन है;
युग-युग-ग्रन्थित नाता
होता आज स्खलन है ।

विदा सुचारु हिमालय !
विदा कलकलित सरिता !
विदा कुञ्ज ! गुञ्जनमय !
विदा वनानी हरिता !

विदा वासना सजनी !
आज पूर्ण है इच्छा;
विदा प्रिय सखी विजनी !
दो अब अन्तिम भिक्षा !

प्यारी परियो ! सब मिल
राग सुनाओ मङ्गल,
अन्तिम लोरी तन्द्रिल
गाओ अलस, सुकोमल !

कैसा मत्त निराला,
यह अपूर्व शुभ क्षण है !
हर्ष ! हर्षका प्याला
हुआ आज पूरण है !

दिसम्बर, १९३१

दमयन्ती

नीरव, सौरभ-स्निग्ध विपिन में
मृदु-अलसित लालस छाया;
इस गिरितट के खर शर-वन में
अन्धकार घन हो आया।

स्मित-विभ्रम से रञ्जित कर दिक्
पहने अरुण करुण सा वेश
सन्ध्या-बाला निज अञ्चल में
लाई क्या विलास-आवेश !

रजनीगन्धा निज सौरभ से
बनी उन्मना, आकुल-प्राण,
कैसे विंधा मर्म में उसके
कुसुमायुध का खर-तर बाण ?

वन-कपोत ने पहुँच नीड़ में
पकड़ा सुखद शान्ति का क्रोड़,
हंसी भी पर्वत में आई
किस सैकत की माया छोड़ !

गिरि-उपत्यका किस मधु-रस से
हुई अलस, विह्वल, विश्रान्त ?
विकल स्वप्न से हुई विमूर्च्छित
वनस्थली हो तन्द्रा-क्रान्त।

थकित हुई हो तुम दमयन्ती !
जड़ित चकित सी हो विभ्रान्त,
खिन्न हुए पेलव पद-पल्लव—
चलते चलते हुआ दिनान्त;

नल ने भी त्यागा है, कल से
भटक रही हो एकाकी,
मुख में व्यञ्जित करुण भलक है
चिर-विषादमय रेखा की;

अतिशय कोमल छुईमुई-सी
हुई देह-लतिका बलहीन,
सोओ, सोओ, हो जाओ तुम
निखिल-निलय में निपट-निलीन।

तन्द्रालसित, निमीलित वन में
सो लो, सो लो दमयन्ती !
सो जाओ तुम, फिर अनन्त तक
आँख न खोलो दमयन्ती !

निर्झर कल-कल लोरी गाकर
अवश करेगा लोचन-कोर,
विमन पवन निज सरस परस से
पलक करेगी पुलक-विभोर ।

मन्द-प्रभञ्जन-दोलित शाखा
तुमको व्यजन डुलावेगी,
निष्ठुर, निलज, निदय निर्यातन
करुणा-सहित भुलावेगी ।

शीतल हिम-जल-कण-जालक से
विटप करेगा अश्रु निपात,
विहगी करुण विहाग-राग से
दुख रोवेगी सारी रात ।

तारकगण कर निशा-जागरण,
भासित कर निज तरलालोक,
करुण करों से थपकी देंगे
स्तिमित नयन से तुम्हें विलोक ।

आँख मूँदते ही स्वप्नों का
बिछ जावेगा माया-जाल,
उन स्वप्नों की सजल झलक से
पुलकित होकर रहो निहाल ।

स्वप्नलोक में देखोगी जब
विपुल विश्व का अमित प्रसार,
पल में लय हो जावेंगे सब
इस जग के सुख-दुःख असार।

झाँकोगी जब मायापुर के
शान्त झरोखे से इस पार,
होगा दृष्ट विदर्भदेश का
सरित्-स्निग्ध श्यामल विस्तार।

देखोगी कुण्डिन-नगरी का
चपल-रङ्गमय हास-विलास,
जहाँ किया था अनुभव तुमने
शैशव का अस्फुट उल्लास;

नवल हंस सम मुक्त विचर कर
मदकल-कूजन से सानन्द
जहाँ बिताया निज किशोर-वय
होकर द्वन्द्वहीन, स्वच्छन्द।

देख देख कर पून्य पिता का
गगनचुम्बि मणिमय प्रासाद
होगा विस्मृत-स्मृति-मन्थन से
आलोड़ित आलस अवसाद।

हाय! पड़ा है वहाँ तुम्हारा
अब तक कनक-खचित पर्यङ्क,
सोती थीं तुम जिसमें लेकर
ऊषा-स्निग्ध स्वप्न अकलङ्क।

अतिथि, असुक्त, अनाथ जनों की
सेवा में नित हो तल्लीन,
करुणामयी अन्नपूर्णा-सी
राज रही थीं तुम स्वाधीन।

अपने ही रँग में विभोर हो
थीं तुम मदन-ताप से हीन,
हाय! अचानक मर्म सुकोमल
कैसे तव हो पड़ा विलीन?

कैसे नल के मदनानल से
गलित हुआ तव कोमल प्राण?
क्यों चिर-निर्दय पुरुष-जाति से
तुम भी नहीं पा सकीं त्राण?

❀ ❀ ❀

सोओ, सोओ, सब दुख भूलो,
अब न करो निज मर्म विभग्न,
तुम अनन्त तक पुलक-स्वप्न के
फेनिल रस में रहो निमग्न।

मायापुर के इन्द्रजाल से
रचित इन्द्रधनु की माया—
फिर से रँग देगी अन्तस्तल
स्वप्नमयी रत्नच्छाया।

फिर से जाग पड़ेगा मन में
बालकाल का कल-कल्लोल,
फिर से किलक उठेगी कल-कल
कौतुक-कीलित-केलि विलोल।

नव-यौवन का मदन-जनित ज्वर,
परिणतवय का चिन्तातापᅳ
सभी विकारों से विमुक्त हो
भोगोगी उमङ्ग निष्पाप।

निर्वासिता सती सीता ने
जिस प्रकार होकर गतिहीन
नव-जीवन-यापन की ठानी
होकर वसुधा-गर्भ-विलीन;

तजी हाय! पुत्रों की माया,
छोड़ा हाय! राम का सङ्ग,
नये सिरे से रँगना चाहा
जीवन का नित-नूतन रङ्ग;—

उसी भाँति दमयन्ती! तुम भी
त्यागो, त्यागो नल का मोह,
हाय! नहीं तो तुमको शोषित
कर देगा यह असह विछोह।

नहीं चाहती हो यदि तुम इस
दुस्सह आतप से तपना,
सरस स्वप्न-माया से कर लो
गठित पुनः जीवन अपना।—

कभी उड़ेगी महाकाश में
राजहंस-सम पङ्ख पसार,
कभी किसी निर्मल मानस में
कर लोगी कल-केलि-विहार।

स्फटिक-सलिल-सिञ्चित सैकत में
कभी दलित कर स्वर्णिम रेणु,
मरकत-तुल्य नवीन बाँस की
करुण बजाओगी मृदु वेणु।

सीता-वञ्चक कलित कनक-मृग
देगा नित्य तुम्हारा साथ,
करुण, कान्त, कमनीय कपोती
चूमेगी तव कोमल हाथ।

मत्ता मातङ्गी सी नित-नित
नव-नव वन में डोलोगी,
चपल नाग-कन्या सी प्रतिदिन
नव-रहस्य-पट खोलोगी।

हो जावेगा स्वप्न-स्पर्श से
लय यह काल विषादाच्छन्न,
महाकाल-गति में नाचोगी
नव-प्रसून सी विमल-प्रसन्न।

❀ ❀ ❀

हाय! नहीं तजती दमयन्ती
व्यथित वसुमती की ममता,
स्वप्नलोक की माया से भी
उसका हृदय नहीं रमता।

नल का वेश बनाकर भी जिन
देवों ने निज पद सुकुमार
कभी भूलकर भी धरणी पर
धारण किये न किसी प्रकार—

उन देवों को दमयन्ती ने
कभी नहीं चाहा वरना;—
यहीं जन्म लेकर दमयन्ती
यहीं चाहती है मरना।

नव-विवाह-उत्सव में उसके
हुआ दुःख-जल का अभिषेक,
हाय! हुई थी होमानल से
उत्थित दुःख-धूम्र की रेख।

वह मङ्गलमय दुःख हृदय में
परम रत्न सम कर धारण
करती जाती है दमयन्ती
सुकठिन नियमों का चारण।

किसी स्वप्न की माया से भी
इसे नहीं भूलेगी हाय!
कठिन वज्र को छिपा मर्म में
पड़ी हुई है वह मृतप्राय।

कौन जगावेगा? सोई है
जग की प्यारी दमयन्ती,
तीक्ष्ण बाण से विद्ध मृगी-सी
राजदुलारी दमयन्ती;

महारण्य में चिर-मूर्च्छित सी
यह अलबेली दमयन्ती,
बिलख बिलख कर विकल पड़ी है
निपट अकेली दमयन्ती।

मई, १९२७

नरक-निवासी

पड़ा हुआ हूँ उग्रगन्धमय घृणित, गलित रौरवमें,
स्वेद-क्लेदसे नित प्रप्लुत हूँ। निशिदिन हाहारवमें
बजती है मेरे कानोंमें आतङ्कित ध्वनि भीषण
किन प्रमत्त प्रेतोंकी! प्रतिपल होता है संघर्षण
कुष्ट रोगसे भ्रष्ट, शीर्ण, कङ्काल-शेष स्त्रीगणसे,
क्लीब, क्लिष्ट पुरुषोंसे। अहरह काम-प्रणोदित रणसे
जीव कौन ये मरण-मत्त हैं?—ज्वर-जर्जर, उच्छृङ्खल!
हिंस-नेत्र हैं गह्वर-गत, है रक्तहीन मुख पिङ्गल;—
चण्ड क्षुधासे लम्बित जिह्वा है उनकी आलोलित,
रक्त-तृषासे ज्वलित, शुष्क इन्धन-सम। तीव्र प्रदोलित
रुक्ष, विसर्पित जटा हाय, फुफकार रही नागन-सी
किस ज्वालामय पवन-वेगसे? नितप्रति प्रलय मगन-सी
रक्तनदी बहती है यह उत्तप्त वसादि-समाकुल।
तृप्त स्नान करते हैं उसमें कौन प्रेत-दानव-कुल?
स्तूपीकृत हैं पुञ्ज-अस्थि-पञ्जर प्रस्तर-पर्वत-सम;
उनके प्रति कोटरमें विषधर जीव घृणित कीटोपम
सर्पित, लोलित, पुञ्जीकृत हैं। वक्षस्थलमें मेरे
रक्तबीज-सम चिमटे हैं ये क्या कीटाणु घनेरे!—
चूस रहे हैं सत्त्व जुगुप्सित तृष्णासे। मैं थर-थर
लोमहर्षसे कांप रहा हूँ, विकट घृणासे जर्जर।
निखिल वायु-मण्डलमें कैसी पूतिगन्ध है बहती!
उसकी ज्वाला अहरह रहरह मेरा हिय है दहती

गन्धक-विगलित अग्नि-बाण-सी। कैसा सुकठिन शृङ्खल
जकड़े है मेरे पांवोंको! मलिन भूमि अति पङ्किल
बनी हुई है शय्या मेरी। किन भौतिक स्वप्नोंका
भीषणतर पाषाण-भार यह कैसा सुदृढ़, अनोखा
पड़ा हुआ है मेरे क्लान्त हृदयपर!

हाय, दुलारा
लुप्त हुआ मम स्वर्ग कहाँ वह निखिल जगत्से न्यारा?
कहाँ गया चिर-शान्ति मगन वह नगन गगनका अङ्गन—
सूर्यालोकित, चन्द्र-तारका-रञ्जित? प्रिय आलिङ्गन
प्यारी शरत्-कुमारीका क्यों हुआ स्वप्न-सम झूठा?
हिमगिरि-पुञ्जित सांध्य स्वर्ण वह किस पिशाचने लूटा
मेरी मानस-खनिसे? अरुणोदयकी रक्तिम माया
रुधिर-रञ्जमें लीन हुई; गिरिवनकी श्यामल छाया
अन्ध मोह-गह्वरमें मगन हुई; खर-धारा तीखी
तरल, तीव्र निर्झरकी सुकठिन, निर्मम खड्ग सरीखी
निज स्मृतिसे करती है प्रतिदिन मेरा मर्मच्छेदन।
सांय-सांय रवसे बजता है प्रतिपल कैसा वेदन
शिरा-शिरामें!

विपुल वासना-विकसित मेरा यौवन
भ्रष्ट योग-सम कहाँ हुआ क्षय? महत् चिरन्तन जीवन
चिर जड़तासे स्तब्ध हुआ क्यों? हे मेरे प्रिय भाई!
निखिल रूप-रस-गन्ध लुप्त कर क्या कुहेलिका छाई
अन्ध मनोमण्डलमें मम?

हे प्यारे मर्त्य निवासी
मानवगण ! प्रतिदिन तुमको कल-कोमल, करुण उदासी
करती है पुलकित, हिल्लोलित । प्रतिदिन नव-नव आशा
रञ्जित कर देती है विगलित हियकी तरल पिपासा
किन विचित्र रङ्गोंसे ! नित-नित नूतन सुख-दुख-लीला
इन्द्र-धनुष-सम रँग देती है गगन तुम्हारा नीला ।
मृदु कलरवसे करते हैं शिशु घर-घरमें कल-क्रीड़ा;
नव-मुकुलित लतिका-सम व्याकुल नवल-वधूकी व्रीड़ा
देख-देखकर होते हो तुम हर्षित । प्यारी तरुणी,
अलबेली करती है पागल तुमको,—जग-मन-हरणी
नव-नव रागमयी मायासे । मातृ-स्तन्य-रस-धारा
उमड़-उमड़ गद्गद करती है शिशुका हृदय दुलारा ।
अक्षय जीवन देती तुमको माताकी मृदु ममता ।
किन्तु हाय, छाई मम हियमें यह क्या कुटिल विषमता !
प्यारो ! जब हेमन्त अन्तकर नव-वसन्त इतराता,
विकल कण्ठसे कल-कोकिल तब पुलक-विधुर हो गाता
अरुणोदयमें तुम लोगोंके अङ्गनमें; अलि-गुञ्जन
आकुल तान-सहित करता है मानवती-मन भञ्जन;
मृदुल-मञ्जरी माधविका तब दिन-प्रति-दिन है बढ़ती,
नव-रसालको प्रेम-पाशमें वह सोल्लास जकड़ती
सरस स्नेह-रससे सरसाकर । ऐसे ही नव-वर्षा
सिञ्चन करती है करुणा-जल, निखिल जगत्-मन-हर्षा;—
फैला तुम लोगोंके तप्त गृहोंमें शीतल छाया—
विस्तारित करता है घन आषाढ़-मेघ क्या माया

हाय, तुम्हारे विस्मित, उत्सुक नयनोंमें! शरदाभा
धरणीके कण-कणमें ला देती है कैसी शोभा!
अणु-अणुमें सञ्चारित करती है क्या पुण्य सुशीतल!
स्वर्ण-वर्णसे रंग जाता है पावनतम जगतीतल।
हाय, किन्तु अच्छेद्य वज्रकी दारुण अविचल जड़ता
जकड़े है मम हृदय; भीम पाषाण-भारकी दृढ़ता
प्रवल भूत-सी दवा रही है मुझको। विकल पड़ा हूँ
स्रोतहीन इस पङ्क-कुण्डमें; होकर वद्ध सड़ा हूँ।
स्तर-स्तरमें दुस्तर प्रस्तर हैं इस गह्वरके ऊपर;
कैसे इनको लङ्घन करके आ सकता हूँ भूपर—
मुक्तालोकित पवन-राज्यमें ?

मुझे वता दो भाई!
कव तक यह स्थिति अटल रहेगी अति निर्मम, दुखदाई ?
कौन उवारेगा मुझको इस वज्र-कठिन वन्धनसे ?
अचल शक्ति क्या विचलित होगी मम विदीर्ण क्रन्दनसे ?
चिर-अनन्त तक क्या मैं इस रौरवमें सड़ा रहूँगा ?
कव तक, कितने युग तक दुस्सह ज्वाला नित्य सहूँगा ?
किन पुञ्जित पापोंसे करके भार-ग्रस्त यह कांधा
कौन शक्ति है जिसने मुझको इस दृढ़तासे वांधा
महाकाल तक ?

हृदय! उठो अव, आज मचेगा ताण्डव;
रोम-रोमसे हुंकृत होवे महा-गान अति भैरव।
हे उन्माद! करो निज मदसे निखिल नियम परिवर्तन।
विश्व-प्रकृतिको विचकित करके निपट नग्नतम नर्तन

आज दिखा दो। फिरसे खोजो स्वप्न-स्वर्ग वह प्यारा—
वर्षा, शरत्, वसन्त-आकुलित अभिनव भुवन दुलारा।
बद्ध वेदना उमड़ उठे अब, सुप्त स्फूर्ति हो स्पन्दित
नव-चेतनसे; क्रन्दित होवे तन्द्रित आशा स्तम्भित।
विफल वासना व्याकुल होकर पुलकित होवे पलमें
नवोल्लाससे; सचल प्रकृति हो वाहित अखिल अचलमें।
दिनपर दिन बीता जाता है, कब तक धैर्य रहेगा?
इस असीम स्तम्भनकी जड़ता कैसे हृदय सहेगा
जन्म-जन्म तक? निठुर दैवसे अब संग्राम छिड़ेगा,
बद्ध हृदय मम अन्ध शक्तिसे हो निर्द्वन्द्व भिड़ेगा।

जनवरी, १९३१

नवीना माता

नवल लास से विलसित शिशु-मुख चूमो माता, चूमो।
तरल सुधाके मधुर मोहमय अविरल रस से झूमो।
गद्गद् थरथर हर्षण छलछल नयनों में है छलका;
स्नेह-गलित नव वेदन सुललित स्वेदकणों में झलका।
हिय के अगम अतल से कैसे पाया माँ! यह मोती?
हिम-सागर की कौन परी इस निधि कारण है रोती—
निशि-दिन कंप-रुदन से? कैसे उससे तुमने छीना
निष्कलंक हीरक यह? हो तुम अखिलानंद-विलीना—

देख-देखकर शोभा माता! नव-नीहार-पतन-सी—
कलित कांति कमनीय ललन की चिर अनमोल रतन-सी।
नव-वसंत के मृदु हिलोल से हो विलोल, उच्छृंखल,
तुम यौवन के गहन विजन में भटक रही थीं चंचल;
मलय-व्यजन से गंध-विधुर हो लावनमयी चमेली
लुब्ध लवंगी से करती थी लाजहीन अटखेली;
तुम भी उनके सँग में हिलमिल थीं उन्मद-रस-आकुल;
करती थीं तुम सब सखियाँ मिल सुरभि-रभस से व्याकुल
मायाच्छन्न विपिन को।

सहसा हुआ शरत् का आगम
विन वर्षा के। पक्व शस्य से लहराया क्या विभ्रम
धरणी के हृत्तल में! प्रप्लुत सरिता-सीमांतर में
शुभ्र काशवन हुआ प्रफुल्लित। पुलक विकल निर्झर में
किलक उठा कल-क्रंदन। पल में स्तब्ध हुआ पिक-कूजन;
कंपित, क्लांत कपोत-कंठ से करुणालास-रस-सिञ्चन
हुआ विजन में। देखा तुमने हृदय-गगन जब अपना—
झूम रहा था स्निग्ध सांध्य-छाया में सुमधुर सपना;—
स्वच्छ नीलिमा में सोया था अलसित वेदन न्यारा;
पाया तुमने विह्वल हिय से उज्ज्वल संध्या-तारा।

मधुवन का माली

निज छिन्न माल की डोरी
मैं लिए चला जाता था, गाकर
अलस - पुलक - मृदु लोरी।
वह थी नीरव निर्वचना,
थी अलसित - विकसित - नयना,
वह मौन-मूढ़ लेटी थी सजकर
उत्सुक वासक - शयना;
वह झाँक रही थी बाहर को किस
विकल भूल से मोरी!
किस शशि की नवल चकोरी!
था एकाकी निःसङ्गी;—
छवि दिखलाता था विमल जलद निज
नभ में रङ्ग - विरङ्गी।
थी प्रकृति शान्ति में मग्ना,
थी सन्ध्या निर्लज - नग्ना;
कल उत्कण्ठा से उत्सुक होकर
गाती थी उद्विग्ना—
किस नवल-प्रात की आशा से उड़
सागर - पार विहङ्गी!
बज उठी हृदय - सारङ्गी।
मैं लगा बजाने वंशी;

वह किलक उठी हो पुलक-प्रकम्पित
आकुल वेतस-वन सी ।
तब छाया था अँधियारा;
था बहा रहा नव-तारा
किस जनम-मरण के निखिल-स्फुरण से
करुण-किरण की धारा !
वह हुई विपुल के लिये तरङ्गित
वंशी के कम्पन सी,—
किस मानस की कल-हंसी !
मैं चला निराश उदासी;
मैं छोड़ गया पीछे से अपने
आँखें बेकल प्यासी ।
वह व्याकुल विवश पिपासा,
मृदु पुलक-उच्छ्वसित आशा,
वह सजल-नयन इङ्गित, अति नीरव,
सुरभि-सुवासित भाषा—
थीं करती आकुल मुग्ध हृदय मम;
था रस-लुब्ध विलासी—
मैं निजन - निलय - निर्वासी ।
थी मेरी चाल निराली;
थी मदभोली आँखों में मेरी
छाई लालस-लाली ।
मैं चलता था मदझूमा,
था वन-उपवन में घूमा,

किस उजल नयन के सजल लाज ने
मेरा मुँह था चूमा!
हो विकल-विधुर था अथिर थिरकता
पी मधु-रस की प्याली—
किस मधु-वन का मैं माली!
हूँ विजनवती का प्यारा;
मैं भूला फिरता हूँ भटका नित
वन में राजदुलारा।
किस घर की व्याकुल बाती
है मुझको नित्य रुलाती!
पर विजन-विश्वकी शान्त क्लान्त छवि
जकड़े है मम छाती।
नित बहा रहा हूँ मदविह्वल हो
अविरल दृग-जल-धारा,—
मैं किस वेदन का मारा!

जून, १९२७

उसकी स्मृति में-

जिस दिन मैंने पहले उसको देखा था बचपनमें,
मुखमें क्या स्वर्गीय प्रभा थी, विकसित ज्योति नयन में !
क्या सकरुण, सुकुमार वेदना मुखमें झलक रही थी !
कैसी विह्वल व्याकुलता आँखोंमें छलक रही थी !
भोली-भाली, सरस, सलोनी छवि मेरे मन भाई,
किस विषादकी श्यामल छाया शुष्क हृदयमें छाई !
मैंने सोचा—किस माताकी है यह परम दुलारी,
किस भैया की बहन लाड़िली, किस दीदीकी प्यारी ?
चिर-परिचित-सी लगी मुझे क्यों पहले ही दर्शनसे ?
सरस स्नेह उमड़ा रग-रगमें हाय ! प्रथम स्पर्शनसे ।
हाथ थामकर उसका मैंने पूछा नाम दुलारा,
मन्द-मन्द मुसका कर बोली—"मैं हूँ प्यारी तारा ।"
मैंने पूछा—"किस माताके नैनोंकी हो तारा ?"
करुणा-विह्वल, छलछल दृगसे उमड़ चली जल-धारा ।
हाय, निखिल जगमें न कहीं थी जीवित उसकी मैया,
दीदी भी न कहीं थी कोई, प्यारी बहन न भैया ।
उदासीन थे पिता, निष्ठुरा थी उसकी प्रिया मौसी,
जो प्रिय वचन सुनाती कहकर—"हतभागी, मुहझौंसी !"
निखिल विश्वके किस कोनेमें थी वह निपट अकेली ?
निभृत विजनमें कहाँ स्फुटित थी वह लतिका अलबेली ?
अपने ही अन्तरके रससे वह दिन-दिन बढ़ती थी,
स्वप्न-जगत्में हँस-हँसकर वह फिर रो-रो पड़ती थी ।

हाय, एक ही दिनमें मुझसे कैसा नाता जोड़ा !
व्याकुल हियसे मुझे जकड़कर पल-भर साथ न छोड़ा ।
मुझे विकल करती थीं निशिदिन उत्सुक प्यारी आँखें,
डबडब रससे भरी हुई वे नींबूकी-सी फाँकें ।
तरल भास था कैसा उनका, कैसा था आकर्षण !
देख-देख होता था मेरे रोम-रोममें हर्षण ।
मुग्ध दृष्टिसे निरख-निरख वह मुखड़ा सहज सलोना,
समझ गया मैं, मुझको सारे जीवन-भर है रोना ।
कभी खेलती वह निर्जनमें कैसा खेल निराला !
कभी गूंथती थी उपवनमें कलित केतकी-माला ।
कभी बिलैयाको वह अपनी लेकर गोद सुलाती,
करके प्यार, दुलार उसे तत्काल बिसर-सी जाती ।
उसे याद आ जाती थी तब अपनी प्यारी मैना,
जा पिंजड़ेके पास स्नेहसे कहती—"आ जा, मैना !"
पिंजड़ेपर निज कोमल अधरोंको करती थी स्थापन,
रक्तचंचुसे मैना उनको कर देती थी चुम्बन ।
विकल पुलकसे किलक-किलककर बजा-बजाकर ताली,
स्नेह-सहित अपनी बहनाको देती थी वह गाली ।
मैना कहती—"तारा, तू मर जा !" वह हँस पड़ती थी,
बहनाकी प्यारी गालीसे वह न कभी चिढ़ती थी ।
इस प्रकार निज तृषित हृदयकी ज्वाला हाय ! बुझाती,
स्वयं सृजनकर स्नेह-जगत् निज, मन अपना समझाती ।
हाय, दुलारी मैना ! कैसी सफल हुई वह बानी !
कहाँ आज तुम, हाय, कहाँ है मेरी तारा रानी !

संध्याको वह मेरे संगमें विपिन-भ्रमणको जाती,
निरख-निरख छवि शान्त प्रकृतिकी अपना मन बहलाती।
निरुद्देश्य फिरते थे दोनों पर्वतके वन-वनमें,
क्या उल्लास झलकता मुखमें, क्या आशा थी मनमें !
किस प्रवेगसे उसे खींचता था संध्याका तारा !
उसके विस्मित नयनोंको लगता था कैसा प्यारा !
उसे देखकर फिर वह आँखें नहीं फिरा सकती थी,
हेर-हेरकर उसकी शोभा वह न कभी थकती थी।
सम्भव है क्या—वह था उसके पूर्व-जन्मका साथी ?
वह था सखा दुलारा, तारा उसकी परम प्रिया थी ?
छीन ले गया मुझसे उसको क्या ईर्षाके कारण ?
वक्षस्थलमें किये हुए है आज उसे क्या धारण ?
चूमो, चूमो संध्या-तारा ! करो उसे आलिंगन,
स्निग्ध करोंसे कर दो उसके अश्रुकणोंको मोचन।
उसे रिझाओ, किन्तु बढ़ाओ मेरे हियकी ज्वाला,
उसे पिलाओ सुधा, मुझे दो हालाहलका प्याला।
सरिताके ढिग जाकर दोनों करते थे जल-क्रीड़ा,
कलकल जलसे हमें रुलाती लहरी लोल अधीरा।
दूर पहाड़ी खेतोंसे मुरलीकी तान सुरीली,
बीच-बीचमें बज उठती थी कैसी करुण, रसीली !
कभी निठुर हम मत्स्य पकड़ते लिए कँटीली वंशी,
निर्निमेष रहते, जब जलमें कभी तैरती हंसी।
कभी बैठकर वेत्र-लताकी सघन कुंज छायापर,
सन्न हृदयसे सुनते थे हम सुरुचिर पल्लव-मर्मर !

काश-गुच्छको बाँध-बाँधकर निज कुंचित कुन्तलमें
वहीं लेट जाती सिर रखकर वह मेरे पदतलमें।
वहाँ सुनाता था मैं उसको कोई करुण कहानी,
उत्सुक हो, एकाग्रचित्तसे सुनती मेरी रानी।
जब श्मशानके निकट अकारण जाते शिवके मन्दिर,
शुष्कजटा सन्यस्ता देवी दर्शन देती अन्दर।
दोनोंके मस्तकमें वह क्या ज्वलित भभूत लगाती,
मायामय आशीर्वादसे क्या उल्लास जगाती!
काश-कुसुम करमें लेकर तारा करती थी अर्चन,
रोम-रोममें भक्ति-हर्षका हो जाता था सर्जन।
उल्कापात कभी जब होता, वह होती हर्षाकुल,
लगती थी आनन्द-बाण-सी उसकी रेखा मंजुल।
एक वर्ष जब धूमकेतु था शोभित हुआ गगनमें,
दमक उठा उल्लास अलौकिक उसके दीप्त नयनमें।
किस अनंगका बाण मनोहर हुआ शून्यमें सज्जित!
देख-देखकर उसको तारा हुई पुलकसे लज्जित।
भूल गई वह आकुल वेदन, भूल गई वह रोना,
अशन-वसनकी चिन्ता भूली, भूल गई वह सोना।
लगा उसे वह मस्त तान-सा, चिर-उन्माद-स्वपन-सा,
भाग्य-गगनमें भूला-भटका अस्थिर, अचिर तपन-सा।
भ्राम्यमाण निज जीवनकी क्या देखी उसमें छाया?
धूमकेतु-सी लीन हुई क्या क्षणिक-प्रभा वह माया?
नव-नव रुचिर कुसुम-चय लेकर, गूँथ-गूँथकर माला
पहनाता था उसको प्यारा नव-वसंत मतवाला;

घृणा-सहित उस मालाको निज पैरोंतले कुचलकर
नष्ट-भ्रष्ट कर देती थी वह हियमें मचल-मचलकर।
शरत्-देवकी अमल-धवल नव-कान्ति भुवन-मन-मोहन
उसका चित्त हरण करती थी बनकर रुचिर, सुशोभन।
हिम-ऋतुकी जब चन्द्रकान्त-निभ आभा स्वच्छ, सुशीतल
हिम-निपातसे कर देती थी उज्ज्वल यह धरणीतल—
परिस्तानकी तब वह माया उसका हृदय लुभाती,
उसे सुनातीं हिमकी परियाँ क्या संगीत प्रभाती!
जब निहार नीहार-विपिनकी कल-कमनीय हिमानी
हो जाता था विनमित, अवनत मन उसका अभिमानी,—
विगलित होकर तब वह कहती—"यही जगत् है मेरा!
इसी जगत्के निभृत नीड़में लूँगी हाय, बसेरा।
यही स्वप्न है मेरा, भैया, इसी अप्सरालय में
कठिन जगत्से हो विमुक्त अब हुआ चाहती लय मैं।"
श्वेत-कुसुम-सम हिम-स्फुलिंगकी जब होती थी वर्षा,
नाच-नाच उठती थी तब वह मुझको तरसा-तरसा।
शुभ्र तुषार-स्फटिक-कण-सा था चिर-कुमार उसका मन,
हुआ उसीके सँग विलीन क्या पकड़ हिमानी-दामन ?
मेरी रानी स्वप्न-जगत्में हुई निसंशय, निर्भय,
हिम-मंडित हेमन्त-कला सी दिन-दिन अधिक प्रभामय।
स्थिर न रहा पर अधिक काल तक स्वप्न-भवन सुमनोहर,
निठुर चक्रके ताड़नसे वह हुआ चूर धरणीपर।
जकड़ लिया जगने उसको मिथ्या समाज-बन्धनसे,
बिछुड़ी मुझसे मेरी प्यारी करुण, आर्त-क्रन्दनसे।

सास-ससुर-पतिका शासन, गार्हस्थ्य-चक्रका पीड़न
क्षोभित करने लगा उसे वह पाप-ताप-आलोड़न।
हिम-संघात-शिला-सी बनकर कठिन-हृदय, निर्मोही
बन्धनसे हो क्षुब्ध-प्राण वह बनी विकट विद्रोही।
लगी छटपटाने वह विहगी चिर-मुक्ता निर्लिप्ता,
विगलित होने लगी हिमानी-सी सविता-कर-तप्ता।
पुनः स्वप्नमय हुई हाय, वह हो अनन्त-निद्रारत,
चिर-कुमारताकी वह महिमा रहा अखंड अनाहत।
चिता जली थी उसकी प्यारो! निर्विकार, निर्धूमा,
मैंने उस अन्तिम आभाको झूम-झूमकर चूमा।
शेष-शेष वह हरण कर गई निखिल प्रकृतिकी माया,
स्तब्ध शून्यमें स्तम्भित होकर मैं व्याकुल बौराया!
आज यही है केवल प्यारो! मेरा करुण निवेदन—
जीवन-भर निर्धूम ज्योतिसे जले हाय! मम वेदन;
हाय! न फिरने पावे मेरी इस आशापर पानी—
गहन मृत्युके सघन कुंजमें मुझे मिलेगी रानी।

एप्रिल, १९३१